

Ph.D. Thesis

समकालीन हिन्दी कविता का सौन्दर्य बोध
SAMAKALEEN HINDI KAVITA KA
SAUNDARYA BODH

*Thesis Submitted to
Cochin University of Science and Technology*

for the award of the Degree of

Doctor of Philosophy

In

HINDI

Under the Faculty of Humanities

By

अनुपमा सी. वी

ANUPAMA. C.V

Dr. R. SASIDHARAN
Professor &
Head of the Department



Dr. GIRISH KUMAR K.K
Supervising Teacher

**Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi - 682 022**

February 2020

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled "**SAMAKALEEN HINDI KAVITA KA SAUNDARYA BODH**" is a bonafide record of research work carried out by **ANUPAMA C.V** under my supervision for **Ph.D.** (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Dr. GIRISH KUMAR K.K
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science &
Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin
Date : 01.02.2020

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis entitled "**SAMAKALEEN HINDI KAVITA KA SAUNDARYA BODH** " based on the original work done by me under the guidance of **Dr. GIRISH KUMAR K.K**, Assistant Professor, Dept. of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682022 and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

ANUPAMA C. V
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin

Date : 01.02.2020

पुरोवाक्

पुरोवाक्

सौन्दर्य, साहित्य और कला का एक अनिवार्य तत्व है। कलाकार अपनी रचना के माध्यम से सौन्दर्य का सृजन करता है। साहित्य से जो आनन्द हमें प्राप्त होता है उसके मूल में निहित आत्म-तत्व है सौन्दर्य। साहित्यकार रचना में अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देते हैं। ये अनुभूतियों पाठक को तभी आकर्षित करेंगे जब इसमें कल्पना, बिंबं, प्रतीक मिथक जैसे तत्वों का समुचित प्रयोग हो। इसलिए इन्हें सौन्दर्य के तत्व के रूप में माना जाता है। इसप्रकार साहित्य और सौन्दर्य के बीच अटूट संबंध है। दूसरे शब्दों में, कला एवं साहित्य में निहित सौन्दर्य बोध ही कृति को गौरव प्रदान करता है।

सौन्दर्य बोध का अध्ययन प्राचीन काल से लेकर साहित्य का अभिन्न हिस्सा रहा है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने काव्य सौन्दर्य को अपने-अपने तरीके से विश्लेषित करने का प्रयास किया है। विश्लेषण की इस प्रक्रिया में युगानुरूप बदलाव भी उपस्थित हुआ है। इसका मुख्य कारण युगीन परिस्थितियाँ है। इसलिए यह निसंदेह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य बोध युगीन परिस्थितियों पर भी पूर्णतः निर्भर है। समकालीन हिन्दी कविता, समकालीन समाज और जीवन से गहरे अर्थों में जुड़ी हुई है। वह जीवन संघर्ष और जीवन सौन्दर्य की कविता है। समकालीन कवि सौन्दर्य के पुराने

मानदण्डों को तोड़कर नवीन सौन्दर्य-बोध की प्रतिष्ठा कर रहे हैं। इसे पहचानना और उसका सही मूल्यांकन करना ही मेरे शोधकार्य का लक्ष्य है। शोध प्रबंध का विषय है - **“समकालीन हिन्दी कविता का सौन्दर्यबोध”**।

विषय की प्रासंगिकता का उचित विवेचन केलिए उसे मैंने पाँच अध्यायों में विभक्त किया है। अंत में उपसंहार है।

इस शोध प्रबंध का पहला अध्याय है **‘कविता का सौन्दर्यबोध: एक सर्वेक्षण**। इसमें मुख्यतः कविता और सौन्दर्यबोध के बीच के संबंध को उजागर करने का प्रयास किया गया है। साथ ही सौन्दर्यबोध के क्रमिक विकास में भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। हिन्दी कविता के सौन्दर्यबोध में भारतेंदु युग से लेकर समकालीन समय तक आये परिवर्तनों पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है।

दूसरा अध्याय है - **‘समकालीन हिन्दी कविता में अस्मितामूलक सौन्दर्य’**। हाशिएकृत समाज के स्वत्व बोध की चिंता समकालीन हिन्दी कविता का मुख्य विषय है। स्त्री, दलित और आदिवासी समुदाय अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में कई प्रकार के शोषण को सहकर जी रहे हैं। आज वे अपने अस्तित्व की तलाश कर रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय में समकालीन हिन्दी कविता में चित्रित स्त्री, दलित और आदिवासी जीवन के यथार्थ एवं उनकी अस्मिता की लड़ाई का विश्लेषण किया गया है। साथ ही

अन्य हाशिएकृतों के अंतर्गत किन्नर, बालजीवन, वृद्ध जीवन और समलैंगिकों की अस्मिता के सवाल पर भी चर्चा की गयी है।

तीसरा अध्याय है **‘समकालीन हिन्दी कविता में ‘लोक सौन्दर्य’**। बाज़ार की कृत्रिम दुनिया में कवि लोक जीवन और लोक संस्कृति के प्रति विशेष लगाव दिखाते हैं। इस अध्याय में लोक की अवधारणा, ग्रामीण जीवन, महानगरीय जीवन, स्थानीय अस्मिता, प्रकृति, किसान संस्कृति, लोक संस्कृति आदि पहलुओं पर चर्चा की गयी है।

चौथा अध्याय है **‘काव्य सौन्दर्य का बदला हुआ रूप: नव औपनिवेशिक यथार्थ’**। यहाँ देश के सामाजिक राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक क्षेत्र में नव उपनिवेश के प्रभाव से उत्पन्न भीषण स्थितियों पर विचार किया गया है। जीवन की वास्तविकता में सौन्दर्य ढूँढने का प्रयास प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। समग्र रूप से इस तथ्य को प्रकाश में लाने के लिए आज की राजनीति, भाष्टाचार, महँगाई, राजनीति और धर्म का गठबन्धन, सांप्रदायिकता, आर्थिक संकट, किसान आत्महत्या एवं कार्षिक वृत्ति के संकट आदि पर विस्तार से विचार किया गया है।

शोध प्रबंध का पाँचवाँ एवं अंतिम अध्याय है **‘समकालीन हिन्दी कविता में प्रतिरोध की नयी काव्य भाषा।’** प्रतिरोधी भाषा में समकालीन हिन्दी कविता का भाषिक सौन्दर्य निहित है। ‘प्रतिरोध की भावना’ अस्मिताबोध

की उपज है। वर्तमान समय में प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशेष भाषा में भोगे हुए यथार्थ को प्रस्तुत कर रहा है। असल में यह भाषायी प्रतिरोधी है। इसलिए इस अध्याय में स्त्री भाषा, दलित भाषा, आदिवासी भाषा, लोक भाषा और प्रकृति भाषा पर नज़र डाला गया है। इसके अलावा बिंब, प्रतीक, मिथक और शैली वैशिष्ट्य पर भी विचार किया गया है।

अंत में उपसंहार है। इसमें प्रस्तुत शोध विषय के सटीक एवं विस्तृत विश्लेषणात्मक अध्ययन के उपरांत प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य कोच्चिन विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग के सहायक आचार्य डॉ. गिरीशकुमार जी के मार्गनिर्देशन में संपन्न हुआ है। शोध कार्य को कोई विलंब के आगे बढ़ाने का सहयोग और प्रेरणा हमेशा उनसे प्राप्त हुए हैं। शोधकार्य की पूर्ति के लिए उनकी ईमानदार कोशिशों के प्रति मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूँ।

विभागाध्यक्ष प्रो. डॉ. आर शशिधरन जी मेरे शोध कार्य के विशेषज्ञ रहे हैं। विषय से जुड़े हुए उनके निर्देशों और सुझावों को मैंने सहर्ष स्वीकारा है। मेरे शोध को सही दिशा देने में उनके प्रोत्साहन के लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

विभाग के प्रोफेसर एवं मानविकी संकाय की अध्यक्ष डॉ. के. अजिता जी, जिन्होंने अपनी व्यस्तता में भी मेरी शंकाओं को दूर करने में

अपने बहुमूल्य समय मुझे दिया। इसकेलिए मैं उनकी आभारी हूँ।

विभाग के सेवानिवृत्त आचार्य आदरणीय डॉ. एन मोहनन जी के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। उनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन, बहुमूल्य निर्देशन एवं गंभीर अनुभव इस शोध कार्य के लिए सहायक रहे हैं।

शोधकार्य के संदर्भ में सहयोग देनेवाले विभाग के सहायक आचार्य डॉ. अनीष.के. एन जी के प्रति भी मैं आभार व्यक्त कर रही हूँ।

मेरे इस शोधकार्य की पूर्ति में विभाग के और विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा वहाँ के कर्मचारी सहायक रहे हैं। उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत शोधकार्य की शुरुआत से लेकर अंतिम घड़ी तक बिना हिचक के हर कदम, हर पल मेरे साथ दिए मेरे अपने प्रिय मित्रों, विशेषकर प्रसरा, षैजा, ऐश्वर्या, अंजू, संगीता, अंजली, रजिषा, धन्या, हरिप्रसाद और मेरे अन्य शुभचिंतकों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ।

इस अवसर पर मैं अपने परम पूज्य माता-पिता, भाई-भाभी के प्रति भी हृदयवत् आभार अर्पित करती हूँ। इन्होंने हर प्रतिकूलताओं में मेरा साथ दिया और मेरा कदम डगमगाने से बचाया। इन लोगों के प्यार, उपदेश और प्रोत्साहन से मैं इस मुकाम पर खड़ी हूँ।

मैं यह शोध प्रबंध विनम्रता के साथ विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रही

हूँ। इसकी कमियों एवं गलतियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

सविनय

अनुपमा सी. वी

शोध छात्रा,

हिन्दी विभाग

कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय

कोच्चिन - 682 022

तारीख : 01.02.2020

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय

1-75

कविता का सौन्दर्य बोध: एक सर्वेक्षण

कविता और सौन्दर्यबोध - भारतीय अवधारणा - पाश्चात्य अवधारणा - हिन्दी कविता का सौन्दर्यबोध - भारतेन्दु युग - द्विवेदी युग - छायावाद - प्रगतिवाद - प्रयोगवाद - नयी कविता - अकविता - साठोत्तरी कविता - समकालीन कविता - निष्कर्ष

दूसरा अध्याय

76-149

समकालीन हिन्दी कविता में अस्मितामूलक सौन्दर्य

अस्मिताबोध - स्त्री अस्मिता - सामाजिक संदर्भ में स्त्री - पारिवारिक संदर्भ में स्त्री - आर्थिक संदर्भ में स्त्री- धार्मिक संदर्भ में स्त्री - दलित अस्मिता - हिन्दी दलित कविता-जाति रूपी बन्धन - दलित और राजनीति - सामाजिक और आर्थिक बन्धन - दलित नारी - आदिवासी अस्मिता-आदिवासी और विस्थापन - आदिवासी और प्रकृति - राजनैतिक और सामाजिक समस्याएँ - आदिवासी औरत- किन्नर - बाल जीवन - वृद्ध जीवन - समलैंगिकता - निष्कर्ष

तीसरा अध्याय

150-204

समकालीन हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य

लोक की अवधारणा - ग्रामीण जीवन- महानगरीय जीवन-

स्थानीयता बोध - प्रकृति - विकास और प्रकृति - प्रदूषण -
उपभोक्तावाद और जलवायु में परिवर्तन - किसानी संस्कृति
- मिट्टी से आत्मीयता - बैलगाडी-किसान जीवन यथार्थ -
लोक संस्कृति - निष्कर्ष

चौथा अध्याय

205-266

काव्य सौन्दर्य का बदला हुआ रूप: नव औपनिवेशिक यथार्थ

नव औपनिवेशिक दौर में कविता - आज की राजनीति -
व्यवस्था विरोधी स्वर - भ्रष्टाचार, महँगाई, बेरोज़गारी -
धार्मिक सद्भावना - धर्म और राजनीति के बीच का गठबन्धन
- सांप्रदायिकता - उपभोक्ता संस्कृति - बाज़ारु संस्कृति -
विज्ञापन और ब्रांड संस्कृति -आम आदमी की व्यथा -
किसान आत्महत्या - कार्षिक वृत्ति का संकट - निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय

267-304

समकालीन हिन्दी कविता में प्रतिरोध की नयी काव्यभाषा

काव्य भाषा और प्रतिरोध - स्त्री भाषा- दलित भाषा -
आदिवासी भाषा- काव्य भाषा का नवऔपनिवेशिक रूप -
लोक भाषा - काव्य भाषा का प्रकृति बोध - प्रतीक-मिथक-
बिंब-विभिन्न शैलियों का प्रयोग - निष्कर्ष

उपसंहार

305-310

परिशिष्ट

311

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

312-328

पहला अध्याय

कविता का सौन्दर्यबोध :
एक सर्वेक्षण

कविता का सौन्दर्यबोध: एक सर्वेक्षण

कविता और सौन्दर्यबोध

‘सौन्दर्य’ सुन्दर शब्द की भाववाचक संज्ञा रूप है। ‘सुन्दर’ शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में अनेक मत हैं। वाचस्पत्य कोश के अनुसार ‘सु’ उपसर्ग ‘उन्द’ धातु में ‘अरन्’ प्रत्यय जोड़कर सुन्दर शब्द की सिद्धि हुई है। इसका अर्थ यह है कि ‘अच्छी तरह आर्द्र करनेवाला’। रस का भी वही धर्म है - मन का आर्द्रीकरण। सौन्दर्य और रस के अतिरिक्त और भी अनेक कारणों से मन आर्द्र हो सकता है। इनकी व्याख्या करते हुए नगेन्द्र जी ने लिखा है - “सौन्दर्य वह आदिम विषय है जो स्वयं कभी प्रकट नहीं होता परन्तु जिसका प्रतिबिम्ब सृजनशील मन की सहस्रों विविध उक्तियों में उद्भासित होता रहता है और जो उतना ही वैविध्यपूर्ण है जितनी स्वयं प्रकृति।”¹ सौन्दर्य मनुष्य के हृदय को सदा ही आकर्षित करता है।

सृष्टिगत और कलागत सौन्दर्य के मूल में मानव की अभिरुचि निहित है। जीवन-जगत् के अनेक अनुभवों के आधार पर मनुष्य के मन में सौन्दर्यबोध का विकास होता है। पहली सृष्टि सौन्दर्य है। प्रकृति और मानवीय रूप के नैसर्गिक, स्वच्छंद सजीवन सौन्दर्य के सूक्ष्म अनुशीलन से दर्शक के मन में सौन्दर्य चेतना का विकास होता है।

मनुष्य के सौन्दर्यबोध को, उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक भावनाएँ ज़रूर प्रभावित करती हैं। यह सौन्दर्यबोध के विकास का दूसरा स्रोत है।

1. नगेन्द्र - पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ. 128

सौन्दर्यबोध के मूल में आर्थिक परिस्थितियों का भी योग है। व्यक्ति की आर्थिक स्थिति उनके संस्कारों को विशिष्ट रूप प्रदान करती है, जिससे उसका सौन्दर्यबोध प्रभावित होता है। इसके अलावा सौन्दर्यबोध मानव के व्यक्तित्व एवं जीवन पर भी निर्भर रहता है।

इसप्रकार प्राकृतिक, सामाजिक और वैयक्तिक स्रोतों से विकसित सौन्दर्यबोध के आधार पर ही कला का सृजन होता है। कला और सौन्दर्य के बीच अभेद्य संबंध है। कला से जो आनंद हमें प्राप्त होता है उसके मूल में निहित तत्व है 'सौन्दर्यबोध'।

साहित्य का सौन्दर्य अन्य विषयों के सौन्दर्य से सर्वथा भिन्न है। उदाहरण के लिए, विज्ञान का सौन्दर्य तर्क और अनुसंधान पर आधारित है, इतिहास का सौन्दर्य तथ्य और दर्शन पर आधारित है लेकिन साहित्य में जो सौन्दर्य है वह इन सबसे अलग है। साहित्यिक के सौन्दर्य के मूल में एक भावना मिश्रित सत्य रहता है उसका उद्घाटन साहित्यकार करता है। प्रेमचन्द के विचार में- "जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे जब उसमें सुन्दर का समावेश हो। खूनी का पता लगाने के लिए सतत् उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों को झेलना, न्याय मर्यादा की रक्षा करना ये भाव हैं जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।"¹ इससे साहित्य और सौन्दर्य के बीच का संबन्ध स्पष्ट मालूम होता है।

कला या साहित्य में रूप-सृष्टि का बड़ा महत्व है। रूप-संरचनागत

1. प्रेमचन्द - कुछ विचार, पृ. 28

सौन्दर्यबोध कलाकार के व्यक्तित्व के अनुसार कभी वस्तुनिष्ठ, कभी व्यक्तिनिष्ठ और कभी कल्पनाशील होता है। सत्यम शिवम-सुन्दरम यही साहित्य की तीन कसौटियों हैं। इसमें सौन्दर्य के अभाव में साहित्य निरर्थक माना जाता है। मूल रूप से सत्य 'स्थूल' और नीरस होता है, इसे आकर्षक बनाने में सौन्दर्य का ही मुख्य हाथ है। सौन्दर्य, साहित्य के प्राणवान तत्व है। वह प्रत्येक स्थान और रस में इसका अन्वेषण करता रहता है। इसलिए सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होना मनुष्य की स्वभाविक प्रवृत्ति है। सौन्दर्य बोध की परंपरा में 'सुन्दर' शब्द प्राचीन वाङ्मय से लेकर आज तक के साहित्य में भिन्न भिन्न रूपों को धारण करते हुए अविरल गति से चलता आ रहा है। भारतेतर काव्य-परंपरा में सौन्दर्य को 'कला' के अन्तर्गत रखा गया है। 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त इसका प्रमाण है। जबकि भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य और कला दोनों अलग अलग माने गए हैं। इस आधार पर सौन्दर्य बोध के क्रमिक विकास मुख्य रूप से दो प्रकार की अवधारणाओं पर आधारित हैं। वे हैं:-

- ◆ भारतीय अवधारणा
- ◆ पाश्चात्य अवधारणा

भारतीय अवधारणा

काव्यशास्त्र, काव्य में निहित आत्मतत्व की खोज है। जिसप्रकार शरीर में आत्मा न हो तो वह अचेतन हो जाता है उसीप्रकार आत्माविहीन

काव्य की भी वही स्थिति है। काव्य की यह आत्मा उसको सौन्दर्य प्रदान करती है। इसलिए आरंभिक युग से लेकर आचार्यों ने इसका अन्वेषण का कार्य किया है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने काव्य की आत्मा के रूप में भिन्न-भिन्न तत्वों को निर्धारित किया था जो काव्यशास्त्र में विभिन्न संप्रदायों के नाम से जाने जाते हैं।

भारतीय अवधारणा के अनुसार काव्यशास्त्र के इतिहास के मुख्य संप्रदाय हैं:

- ◆ रस संप्रदाय
- ◆ अलंकार संप्रदाय
- ◆ रीति संप्रदाय
- ◆ वक्रोक्ति संप्रदाय
- ◆ ध्वनि संप्रदाय
- ◆ औचित्य संप्रदाय

अलंकार संप्रदाय

‘साहित्यशास्त्र’ पहले अलंकार शास्त्र नाम से जाना जाता था। दीर्घकाल तक समस्त साहित्य सिद्धांत या धर्म अलंकार नाम से ही आख्यात होता रहा। लेकिन बाद में यह अपने व्यापक अर्थ से सीमित होकर एक निश्चित पद्धति के रूप में प्रयुक्त होने लगा। भारतीय काव्यशास्त्र में

अलंकार संप्रदाय सबसे पुराना है। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में अलंकार का उल्लेख मिलता है। 'अलंकार' शब्द में 'अलं' का अर्थ है 'आभूषण' और 'कार' का अर्थ है 'करनेवाला'। इसप्रकार 'अलंकार' काव्य को सुशोभित करनेवाला या काव्य की शोभा बढ़ानेवाला तत्व है।

आचार्य भामह अलंकार संप्रदाय का प्रवर्तक है। उनके अनुसार 'न कान्तमपि निर्भूषं विभति वनिता मुखम्'¹ अर्थात् जिसप्रकार स्त्री का सुन्दर मुख बिना भूषण से शोभाकारक नहीं होता है उसी प्रकार काव्य की शोभा अलंकारों से बढ़ती है। भामह ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। उनके अनुसार लोक सीमा का अतिक्रमण करनेवाली चमत्कारपूर्ण वाणी अतिशयोक्ति है। यह अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति कह जाता है। आचार्य दंडी के मत में 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'² अर्थात् काव्य के सौन्दर्यकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं। इसी मत का विरोध करते हुए वामन कहते हैं कि काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार नहीं, गुण है। अलंकार, केवल काव्य की शोभा बढ़ानेवाले हेतु मात्र है।

“काव्यशोभाया कर्तारोधर्माः गुणः ।

तदतिशयहेतवस्त्व लङ्काराः”³

रुद्रट ने लिखा है कि 'अभिधान प्रकार विशेष एव चालंकाराः'⁴

-
1. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 35
 2. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा, रामचन्द्र तिवारी, पृ. 30
 3. कृष्णदत्त पालीवाल - हिन्दी आलोचना का सैद्धांतिक आधार, पृ. 62
 4. वही

अभिधान के कथन के प्रकार विशेष तत्व है अलंकार। आचार्य जयदेव के अनुसार 'जो अलंकार शून्य शब्दार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं वे चतुर मनुष्य अग्नि में भी अनुष्णता को स्वीकार करें।'¹ रुद्रट (काव्यालंकार), मम्मट (काव्यप्रकाश 11 वीं शती) रुय्यक (अलंकार सर्वस्व 12 वीं शती) जयदेव (चन्द्रलोक 12 वीं शती) विश्वनाथ (साहित्य दर्पण 14 वीं) और अय्यप्पदीक्षित (कुवलयानंद, 14 वीं शती) इसप्रकार आचार्य भरत से लेकर अय्यप्पदीक्षित तक अनेक विद्वानों ने अलंकार सिद्धांत पर अपना विचार प्रकट किया है।

काव्य के समग्र सौन्दर्य विधान अलंकार की श्रेणी में आता है। लेकिन अलंकार से काव्य का सृजन नहीं होता है, बल्कि काव्य की शोभा में वृद्धि होती है। अलंकार काव्य के लिए एक साधन है, साध्य नहीं। इसलिए अलंकार को काव्य के आन्तरिक तत्व के रूप में नहीं, बाह्य तत्व के रूप में मानना चाहिए।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अलंकार और अलंकार्य का भेद मानते हैं। जिस वस्तु का वर्णन किया जाता है उसे अलंकार्य कहते हैं और वर्णन शैली अथवा शैलीगत विशेषताओं को अलंकार मानते हैं। भामह, दण्डी, वामन आदि ने अलंकार तथा अलंकार्य में अन्तर न मानते हुए काव्य के समस्त सौन्दर्य को अलंकार के अन्तर्गत हो माना है।

1. गणपति चन्द्रगुप्त - भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, पृ. 44

अलंकार के भेद

शब्दालंकार:- जहाँ अलंकार का चमत्कार पूरी तरह शब्द के प्रयोग पर निर्भर होता है, वहाँ शब्दालंकार माना जाता है। शब्दालंकारों के अनेक उपभेद किए गए हैं, जैसे - अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष आदि।

अर्थालंकार:- जहाँ अर्थ संबन्धी चमत्कार उल्लेखनीय हो वहाँ अर्थालंकार होता है। अर्थालंकारों को सात वर्गों में विभाजित किया जाता है तथा उनकी कुल संख्या शताधिक है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, दीपक, विरोधाभास आदि उसमें कुछ महत्वपूर्ण अलंकार हैं।

इसप्रकार काव्य में अलंकारों को प्रमुख स्थान दिया जाता है। अलंकारों से काव्य की शोभा बढ़ती है। लेकिन काव्य की आत्मा के रूप में उसका प्रयोग करने पर वह सफल नहीं होता है। इसे कव्य के बाह्य पक्ष को सुसज्जित करने वाले साधन मानना ही उचित है।

रस सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीनतम सिद्धान्त है रस सिद्धान्त। इसके मूल प्रवर्तक, आचार्य भरतमुनि (विक्रम पूर्व द्वितीय शतक से द्वितीय शतक विक्रमीय के बीच) माने जाते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन किया है तथा 'रससूत्र' भी दिया। भरतमुनि का

रस सूत्र इसप्रकार है:-

“विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।”¹

अर्थात् - विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस के अवयव

रस के चार अवयव हैं:-

स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव।

स्थायी भाव:- जो भाव मन में सदैव स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं और अनुकूल वातावरण पर उद्बुद्ध होते हैं, उसे स्थायी भाव कहा जाता है। इनकी संख्या नौ मानी जाती है। वे रति, हास, क्रोध, शोक, उत्साह, आश्चर्य, घृणा, भय, निर्वेद हैं।

विभाव:- विभाव का अर्थ है 'कारण'। जिन कारणों से सहृदय सामाजिक के हृदय में स्थित स्थायी भाव उद्बुद्ध होता है उन्हें 'विभाव' कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं (1) आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव

अनुभाव :- अनुभाव रसानुभूति के आन्तरिक कारण हैं। स्थायिभावों के उदय के बाद जो शारीरिक या मानसिक विकार दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें

1. रामचन्द्र तिवारी - भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ. 31

अनुभाव कहा जाता है।

व्यभिचारि या संचारी भाव:- विभाव और अनुभाव आदि की सहायता से उद्भूत हुए भावों की पुष्टि करनेवाले सहकारी भाव व्यभिचारि भाव या संचारी भाव के नाम से जाने जाते हैं। इनकी संख्या 33 मानी गई है।

भरतमुनि के रससूत्र के आधार पर ही रस के स्वरूप तथा रस निष्पत्ति पर परवर्ती आचार्यों ने विचार किया और इससे रस सिद्धान्त का विकास हुआ।

रससूत्र के व्याख्याता आचार्य

भट्ट लोल्लट, आचार्य शंकुक, भट्ट नायक, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भरतमुनि के रस सूत्र में आए 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' की व्याख्या करते हुए-रस सिद्धान्त को काफी विस्तार प्रदान किया।

भट्ट लोल्लट का मत 'उत्पत्तिवाद' या 'आरोपवाद' कहा जाता है। उनके अनुसार 'निष्पत्ति का अर्थ है 'उत्पत्ति' तथा 'संयोग' का अर्थ है - उत्पाद्य-उत्पादक, गम्य-गमक एवं पोष्य-पोषक संबन्ध। वे रस की स्थिति अनुकार्य (मूल पात्र) में मानते हैं। दर्शक अभिनेताओं पर मूल पात्रों का आरोप कर लेता है, इसीलिए इनका मत आरोपवाद कहा जाता है।

आचार्य शंकुक का मत 'अनिमितिवाद' कहा जाता है। उन्होंने रसानुभूति के लिए अनुमितिवाद की स्थापना की। नट में अनुकार्य की समस्त

क्रियाओं और रसांगों के परिपाक को देखकर उसे तथा उससे पर्याप्त प्रभावित होकर दर्शक अनुमान बल से रसास्वादन करते हैं। इनके अनुसार 'संयोग' का अर्थ है 'अनुमान' और 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अनुमिति'।

भट्ट नायक के मत को 'भुक्तिवाद' कहा जाता है। रस निष्पत्ति में इनका सबसे बड़ा योगदान 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त है। भावकत्व व्यापार को वे साधारणीकरण कहते हैं तथा इस व्यापार से विभावादि अपने पराए की भावना से मुक्त होकर सामान्यीकृत हो जाते हैं। इनके अनुसार 'संयोग' का अर्थ है 'भोज्य-भोजक संबन्ध' तथा निष्पत्ति का अर्थ है 'भुक्ति'।

'आचार्य अभिनवगुप्त का रसानुभूतिविषयक सिद्धांत' 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके अनुसार दर्शकों के हृदयस्थ मनोविकार, जो वासना के रूप में सदैव रहते हैं, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से जागृत, उद्दीप्त एवं क्रियाशील अथवा साधारणीकृत होकर, वे ही रसास्वाद की अवस्था को प्राप्त करते हैं।

साधारणीकरण

रस सिद्धान्त में साधारणीकरण का विशेष महत्व है। वस्तुतः साधारणीकरण के बिना रसानुभूति हो नहीं सकती। साधारणीकरण कवि द्वारा प्रस्तुत भावों की एक ऐसी रसायन प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत प्रस्तुत किये गये सभी भाव अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में सभी पाठकों या दर्शकों को

अपने सामान्य भावों के आलंबन बन जाते हैं। भाव की यही सामान्य आलंबनत्व की दिशा रसदशा कहलाती है। यही साधारणीकरण है। भट्टनायक ने विभावों के साथ स्थायी भावों के विशिष्ट संबन्धों की मुक्ति को साधारणीकरण माना है। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, विश्वनाथ आदि ने विभाव का (मुख्यतया आलंबनत्व धर्म का) साधारणीकरण माना है। शुक्ल जी साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए कहते हैं- “साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित ‘आश्रय’ के भाव का आलंबन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है।”¹

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार साधारणीकरण कवि की अनुभूति से संबन्धित होता है। “एक ही पात्र विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न रूपों में चित्रित किया जाता है, किन्तु पाठक उसी रूप का साक्षात्कार करेगा जिसको कवि ने चित्रित किया है। कवि चाहे तो रावण को अत्याचारी के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और यदि वह चाहे तो उसे अपनी आन की रक्षा के लिए मर-मिटनेवाला दिखाकर उसके प्रति पाठक की सहानुभूति जगा सकता है। अतः काव्य के माध्यम से कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।”²

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि आलंबन, आश्रय, संचारीभाव एवं

-
1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - चिंतामणी - भाग - 1, पृ. 229, 230
 2. डॉ. गणपति चन्द गुप्त - भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, पृ. 38

सहृदय सामाजिक की चेतना इन सभी तत्वों की एक विशुद्ध भावमयी रासायनिक अवस्था साधारणीकरण है। साधारणीकरण में मूल साधारण भाव पुनः अपना साधारणत्व प्राप्त कर लेता है। संसार में अपना खोया हुआ साधारणत्व प्राप्त कर लेना जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि है।

रस सिद्धान्त के अनुसार कला का लक्ष्य स्वयं कलाकार का आनन्द नहीं - सामाजिक का आनन्द है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में - “आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ही रसदशा है।”¹ युग और देश के अनुसार समीक्षा के मानदंड बदलते हैं। रससिद्धान्त ऐसा ही एक मानदण्ड है जिससे साहित्य की मूल आत्मा की रक्षा होती है। रस सिद्धान्त एक ऐसा मानदंड है जो सभी युगों और सभी देशों की काव्य-रचनाओं में समीक्षा का आधार सफलतापूर्वक बन सकता है।

रसवादी आचार्यों ने रस द्वारा जिस ब्रह्मास्वाद की चर्चा की है, वह सौन्दर्य से पृथक नहीं। आधुनिक युग में जिस सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण हुआ है, वह प्राचीन युग में रस द्वारा गृहीत होता था। सौन्दर्यशास्त्रियों ने जिस भावव्यंजनात्मक सौन्दर्य की कल्पना की है, वह काव्यशास्त्र का रसवाद ही है। काव्यशास्त्रियों के अनुसार- “यह तथ्य निर्विवाद है कि रस लोकोत्तर आनन्द का काव्य प्रतीयमान पदार्थ है इस प्रपंचमय जगत् में रमणीयता धरण करनेवाला सौन्दर्यमय है।”²

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - चिंतामणी - 1, पृ. 107

2. डॉ. नगेन्द्र - भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ. 70

3. रीति संप्रदाय

आचार्य वामन (8 वी शती) को रीति संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीड' धातु में 'ऋन्' प्रत्यय के योग से हुई है, जिसका अर्थ है - मार्ग, पथ, गति, शैली आदि। आचार्य वामन ने रीति की परिभाषा इसप्रकार दी है :-

“विशिष्ट पद रचना रीतिः”¹

अर्थात् विशेष प्रकार की पदरचना को रीति कहते हैं। वे इस विशिष्टता को 'गुण' से जोड़ते हैं:- “विशेषो गुणात्मा।”² अर्थात् यह विशिष्टता 'गुण' से आती है। काव्य में गुणात्मक पदरचना को रीति कहते हैं। दसवीं शती के आचार्य कुन्तक ने रीति के इतिहास में एक बड़ा भारी परिवर्तन किया। अब तक रीति का संबन्ध प्रदेश-विशेष से माना जाता रहा था, जबकि इसे कवि स्वभाव से संबन्धित करके सिद्ध करने का प्रयास आचार्य कुन्तक ने ही किया। सार्थक शब्द मिलने पर वह काव्य नहीं बनता, कुछ विशेष गुणोंवाले शब्द मिलकर ही काव्य का रूप धारण करता है।

वामन के अनुसार 'गुण' और 'अलंकार' जैसे दो तत्व हैं जिनसे परिष्कृत-सुसज्जित होकर भाषा काव्य का रूप धारण करती है। उनके अनुसार 'रीति' ही काव्य की आत्मा है ऐसे मानते हुए सौन्दर्य को उसका साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं। वामन के उपरान्त आनन्दवर्धन ने भी गुण

1. पंडित जगन्नाथ - रसगंगाधर - पृ. 131

2. डॉ. नगेन्द्र - भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ. 70

का विवेचन किया है। उन्होंने गुण को काव्य-रस के साथ जोड़ा है। इस प्रकार गुण को काव्य काव्य के आन्तरिक तत्व के रूप में प्रतिष्ठा मिली।

रीति के भेद

आचार्य कुन्तक ने रीति के तीन भेद किए हैं:- वैदर्भी, गौडी और पाँचाली। रीति संप्रदाय को जानने के लिए इन भेदों को जानना भी ज़रूरी है।

वैदर्भी:- जिस रचना में वृत्ति (समास) का प्रयोग न हो अथवा अल्प हो तथा जिसमें माधुर्य व्यंजक वर्णों का प्रयोग द्वारा ललित भावों का समावेश किया गया हो, वह वैदर्भी रीति कही जाती है।

गौडी:- यह वैदर्भी के विपरीत गुण होते हैं। गौडी में केवल ओज और कान्ति ये दो गुण होते हैं। इसकी रचना में लंबी सामयिक पदावली, अनुप्रास, योजना तथा शब्दाडंबर आवश्यक लक्षण माना गया है।

पाँचाली:- श्लेषरहित, भावशिथिल, कान्तरहित मधुर तथा सुकुमार गुणों से युक्त रचना में पाँचाली रीति होती है।

इसप्रकार वामन द्वारा स्थापित रीति सिद्धांत मुख्यतः गुण, दोष और अलंकारों पर आधारित हैं। उन्होंने गुण को अलंकार से अधिक महत्वपूर्ण माना। काव्य में सौन्दर्य साध्य एवं रीति साधन है और वामन ने इस साधन को साध्य से ज़्यदा महत्वपूर्ण माना। आचार्यों ने वामन के रीति सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार तो नहीं किया और न उसकी नितान्त उपेक्षा भी। रीति भले

ही काव्य के अनिवार्य तत्व न हो, पर उसका महत्व किसी न किसी रूप में अवश्य है।

4. वक्रोक्ति संप्रदाय

वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य कुन्तक को है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवितम्' में वक्रोक्ति को काव्य का अनिवार्य तत्व स्वीकार करते हुए इसे काव्य की आत्मा कहा। काव्यशास्त्र में मुख्य रूप से दो उक्ति होते हैं - स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। स्वाभावोक्ति का अर्थ है सामान्य कथन। जहाँ शब्द अपने रूढ अर्थ का परित्याग करके एक नये अर्थ का द्योतन कराता है वह वक्रोक्ति है। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में 'विचित्र प्रकार की वर्णन शैली ही वक्रोक्ति' कहा है। ध्वनि संप्रदाय के विकास के साथ वक्रोक्ति भी प्रकाश में आया। कुन्तक ने ध्वनि के अंतर्गत ही वक्रोक्ति को भी रखा है। भामह के मत से "शब्द वक्रता तथा अर्थवक्रता का समन्वित रूप ही वक्रोक्ति"¹ है। वामन ने भी वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार न मानते हुए विशिष्ट ही माना है। उनके मत से "वक्रोक्ति शब्दालंकार न होकर अर्थालंकार है एवं सादृश्य निबंधना लक्षणा ही वक्रोक्ति है।"²

वक्रोक्ति एक कथन प्रणाली या प्रतिपादन पद्धति है। वह अलंकार्य न होकर अलंकार है, वक्रता कवि कौशल पर आश्रित है। यह छह प्रकार के हैं:- वर्णविन्यास वक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता, पदपरार्ध वक्रता, वाक्य वक्रता या वस्तु वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता। शिल्प तथा वस्तु को

1. कृष्णदत्त पालीवाल - हिन्दी आलोचना का सैद्धांतिक आधार, पृ. 66

2. वही - पृ. 67

पृथक-पृथक सता न मानकर अखण्डता को वक्रोक्ति ने केन्द्रीयता प्रदान की है। वक्रोक्ति का आधार काव्य भाषा की वह विलक्षणता है जो उसे अन्य सभी से अलगाती है। इसलिए इतना तो कहा ही जा सकता है कि वक्रोक्ति संप्रदाय आचार्य कुन्तक की अद्भुत प्रतिभा, व्यापक दृष्टि एवं व्यवस्थित चिंतन से उद्भूत एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। वक्रोक्तिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति के द्वारा जिस चमत्कार की चर्चा की है प्रायः सभी सौन्दर्यशास्त्रियों को यही मान्यता रही है। वक्रोक्ति का मतलब है वाणी की विदग्धता। सौन्दर्य में मूलतः यही विदग्धता अनुभव की जाती है। इसलिए वक्रोक्ति, सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिष्ठापक तत्व कहा जा सकता है।

ध्वनि सिद्धांत

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि संप्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है। ध्वनि सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। जिन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' के माध्यम से ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की।

ध्वनि की परिभाषा करते हुए ध्वन्यालोककार ने लिखा है :- “जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान को प्रकाशित करता है उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।”¹ इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनि में व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) का होना ही पर्याप्त नहीं है। अपितु प्रतीयमान अर्थ का वाच्यार्थ से अधिक महत्वपूर्ण होना भी आवश्यक है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ व्यंग्यार्थ प्रमुख और वाच्यार्थ गौण हो वहीं ध्वनि मानी जा सकती है।

1. डॉ. गणपति चन्द्रगुप्त - भारतीय एवं पश्चात्य काव्य सिद्धान्त - पृ. 68

आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेद किए हैं:- ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य। जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सुन्दर हो वहाँ ध्वनि काव्य होता है। जहाँ वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ कम सुन्दर है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है और जहाँ केवल वाच्यार्थ है उसे चित्रकाव्य कहते हैं। इन तीनों प्रकार के काव्यों को उन्होंने क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कोटि का काव्य माना है।

काव्यशास्त्र में तीन शब्द शक्तियों का उल्लेख किया गया है :- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें से व्यंजना का संबन्ध ध्वनि से है। व्यंजना वह शक्ति है जो मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर काव्य के वास्तविक लावण्य को व्यक्त करती है। व्यंजना से व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की प्रशंसा करते हुए इसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

ध्वनि सिद्धान्त निश्चय ही अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त से अधिक व्यापक है तथा इसका विवेचन भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में किया गया है। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना द्वारा आनन्दवर्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया।

6. औचित्य संप्रदाय

औचित्य को काव्य में विशेष महत्व प्रदान करनेवाले आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। यद्यपि मूलतः क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी आचार्य थे, परन्तु उन्होंने अपने

ग्रंथ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य को व्यापक काव्य तत्व के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया:- "औचित्य रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।"¹ अर्थात् रस से सिद्ध काव्य पर स्थिर जीवित (प्राणतत्व) औचित्य है। औचित्य के बिना रस की सत्ता संभव नहीं है। रस को शक्ति प्रदान करनेवाला तत्व औचित्य है। इसलिए औचित्य ही काव्य की आत्मा है। क्षेमेन्द्र से पूर्व भी आचार्यों ने औचित्य पर विचार किया है। भरतमुनि ने काव्य में औचित्य को सम्मान दिया है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है कि "औचित्य के अतिरिक्त रस भंग का और कोई कारण नहीं।"²

औचित्य का अर्थ है उपयुक्त सामंजस्य। रस इस सामंजस्य या सन्तुलन का नियामक है तथा उसका महत्व केवल काव्य जगत् में ही नहीं अपितु व्यावहारिक जगत् में भी है। देशकाल एवं परिस्थिति के अनुरूप औचित्यपूर्ण व्यवहार ही सदाचार कहा जाता है। सौन्दर्य एवं कला के क्षेत्र में भी औचित्य का विशेष महत्व है।

औचित्य के छह भेद बताए गए हैं:- अलंकार औचित्य, गुण औचित्य, संगठन औचित्य, प्रबन्ध औचित्य, रीति औचित्य और रस औचित्य।

स्पष्ट है कि काव्य निर्माण के विविध पक्षों पर ध्यान देना ही औचित्य है। इस विशेष ध्यान रखने से काव्य में सरसता आती है, उसकी शोभा बढ़ती है, भाव प्रेषणीयता में वृद्धि होती है और काव्य सहृदयों के लिए आह्लादकारी बन जाता है।

1. डॉ. नगेन्द्र - भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ. 150

2. कृष्णदत्त पालीवाल - हिन्दी आलोचना का सैद्धांतिक आधार, पृ. 69

औचित्य का जो निरूपण काव्य शास्त्रियों ने किया है उससे तो यही ज्ञात होता है कि औचित्य सौन्दर्य का ही अमर नाम है। इसलिए ही क्षेमेन्द्र ने इसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। यह औचित्य रस, रीति, गुण और अलंकार आदि सभी को सीमाबद्ध करता है, उन्हें व्यवस्थित करता है। सौन्दर्य में भी औचित्य की सत्ता है। औचित्यहीन काव्य कभी भी सौन्दर्यवाहक नहीं हो सकता। आधुनिक सौन्दर्य शास्त्रियों के लिए प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियों की यह अनूठी देन है।

इसप्रकार सौन्दर्य की अवधारणा को किसी न किसी रूप में भारतीय आचार्यों एवं विचारकों ने प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। भरतमुनि ने इसे 'शोभा' कहा है तो वामन ने इसे 'सौन्दर्य' या 'अलंकार' नाम दिया है और आनंदवर्धन 'ध्वनि' में इसीप्रकार का प्रतिफलन देखते हैं। रसवादी आचार्यों ने भी 'रस' के अंतर्गत किसी न किसी रूप में सौन्दर्य बोधक तत्व का समावेश किया है। इसप्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य-आत्मा, रस निष्पत्ति, साधारणीकरण आदि पर विशद अध्ययन करके उसके सौन्दर्य बोध की अनंतता को खोजने का प्रयास किया गया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

काव्य मानव जाति की समस्त गतिविधियों का सारसंग्रह है। काव्य की स्वीकृति सार्वभौमिक होने के कारण धर्म और दर्शन से भी ज़्यादा महत्व

उसको प्राप्त है। किसी भी देश और किसी भी काल का उत्कृष्ट काव्य मानव मात्र को प्रभावित करने की क्षमता से युक्त होता है। इसलिए काव्य का महत्व देश-काल सीमा से परे होता है और शाश्वत भी। जिसप्रकार भारतीय मनीषियों ने काव्य की आत्मा खोजने का प्रयास किया उसी प्रकार पश्चिमी आलोचकों ने काव्य पर विशेष महत्व देकर उसपर विचार विश्लेषण करने का प्रयत्न किया था।

पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का आदि स्रोत यूनान रहा है। यूनान के दार्शनिकों, विचारकों एवं काव्य-चिंतकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन ईसा से चार-पांच शताब्दियों पूर्व किया था उन्हीं का अनुसरण करते हुए परवर्ती युग में यूरोप में विभिन्न विचारक उत्पन्न हुए हैं।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का विकास यूनान से हुआ है। अरस्तू ने प्लेटो के दृष्टिकोण पर नए ढंग से विचार करते हुए काव्य की महत्ता का स्थापित कर दिया। लॉजाइनस ने साहित्य तत्वों का विवेचन और स्वरूप निरूपण किया। आलोचक होरेस ने काव्य के औचित्य पर पर्याप्त विचार किया है और अभिव्यंजना पक्ष को अपनी आलोचना का आधार माना है। स्वच्छंदतावादी समीक्षकों ने सौन्दर्य को नवीन ढंग से परिभाषित करके काव्य के क्षेत्र को और विस्तृत बनाया।

आगे, पाश्चात्य समीक्षकों के काव्य संबन्धी धारणाओं पर विस्तार से विचार किया जाएगा:-

प्लेटो

यूनानी दार्शनिक चिन्तकों में प्लेटो का महत्वपूर्ण स्थान है। महान दार्शनिक सुकरात के शिष्य थे प्लेटो। 'दि रिपब्लिक' 'दि स्टेट्समैन', 'दि लाज' आदि उनके प्रमुख ग्रंथ हैं। उनके द्वारा रचित ग्रंथों से यह मालूम पड़ता है कि उनका दृष्टिकोण स्वतंत्र एवं मौलिक है। प्लेटो के साहित्यिक एवं दार्शनिक चिंतन पर राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रभाव विद्यमान है। वे एक आदर्श राष्ट्र की संकल्पना करते हैं और एक ऐसी शासन व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जो पूरी तरह सत्य पर आधारित हो। उन के लिए साहित्य का महत्व उसी सीमा तक था, जहाँ तक वह उसके आदर्श गणराज्य के नागरिकों में सत्य, न्याय और सदाचार की भावना की प्रतिष्ठा में सहायक सिद्ध होता है।

प्लेटो काव्य या साहित्य को मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति मानते हैं। वह सत्य से दो गुना दूर रहता है। वे काव्य का आधार दैवी प्रेरणा मानते हैं। काव्य असत्य है। उनके अनुसार काव्य मात्र अनुकरण है। इस संसार का मूल सत्य ईश्वर है। यह संसार उसके सत्य की अनुकृति है, काव्य इस संसार का अनुकरण है। प्लेटो काव्य के प्रतिमान के रूप में उपयोगिता को मानते हैं। उनकी मान्यता थी कि कवि को मनोरंजन प्रधान और अस्वस्थ मनोवेगों को उत्पन्न करनेवाली कविताएँ नहीं लिखनी चाहिए। समाज को नैतिक एवं आध्यात्मिक बल देनेवाले काव्य को ही वे 'काव्य' के रूप में

मानते हैं। काव्य को अनुकृति मानने के कारण प्लेटो उसे उपयोगी नहीं मानते हैं। काव्य से ज्ञान की दृष्टि नहीं होती। वह मनुष्य की भावनाओं और वासनाओं को उद्वेलित करके अनाचार का पोषण करता है। इसलिए सत्य, न्याय नैतिकता और सदाचार की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने काव्य का बहिष्कार भी किया।

इस प्रकार प्लेटो काव्य और कलाकार को समाज में महत्वहीन मानने पर भी, समाज के लिए उपयोगी काव्य का समर्थन भी करते हैं। जो काव्य नैतिकता का पाठ सिखाते हो, ज्ञानवर्धक हो और समाज के लिए उपयोगी हो प्लेटो उसी काव्य को ही काव्य मानते हैं। साहित्य का चरम लक्ष्य आनंद नहीं, समाजोपयोगी होना चाहिए। अर्थात् प्लेटो के अनुसार काव्य का सौन्दर्य उसमें निहित महान सन्देश से ही द्योति होता है।

अरस्तू

यूनानी दार्शनिकों में प्लेटों के शिष्य अरस्तू का नाम भी प्रसिद्ध है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, तत्त्वमीमांशा, भौतिकशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, आचार शास्त्र, तथा साहित्यशास्त्र जैसे विषयों पर उन्होंने अनेक से ज़्यादा ग्रंथों की रचना की। काव्य संबन्धी उनके विचार यूरोपीय काव्यशास्त्र पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है। उनमें अनुकरण एवं विरेचन सिद्धान्त का सर्वाधिक महत्व है।

अनुकरण शब्द यूनानी भाषा के 'मीमेसिस' शब्द का हिन्दी पर्याय है। अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने अनुकरण शब्द का प्रयोग किया और यह स्थापित किया कि काव्य त्याज्य है, क्योंकि ईश्वर ही सत्य है, इसकी अनुकृति संसार है और संसार की अनुकृति काव्य है। प्लेटो ने अनुकरण का प्रयोग स्थूल अर्थ में किया लेकिन अरस्तू इसे नये तरीके से विश्लेषित करके काव्य की महत्ता को पुनर्स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

अरस्तू ने कवि को भी अनुकर्ता माना है और उसके अनुकार्य का विवेचन करते हुए कहा - "चित्रकार अथवा किसी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अनुकर्ता है। अतएव उसका अनुकार्य अनिवार्य: इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से ही कोई एक हो सकती है- जैसी वे थी या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती है अथवा जैसे वे होनी चाहिए। अभिव्यक्ति का माध्यम है भाषा, जिसमें प्रचलित शब्द हो सकते हैं, या अप्रचलित अथवा लाक्षणिक। भाषा में और भी कई प्रकार के रूपान्तर किए जा सकते हैं, जिनका अधिकार कवि को है।"¹ अरस्तू ने काव्य को सौन्दर्यवादी दृष्टि से देखा और इसे दार्शनिक, राजनीतिक एवं नीतिशास्त्र के बन्धन से मुक्त किया। उनके शब्दों में 'Art is the imitation of nature' अर्थात् "कला प्रकृति की अनुकृति है।"² प्रकृति का अभिप्राय जगत् के बाह्य गोचर रूप के साथ साथ उसके आन्तरिक रूप (काम, क्रोध आदि मनोविकार) आदि से भी है।

वस्तुतः कवि या कलाकार अपनी संवेदना और अनुभूति से अपूर्णता

-
1. सं. डॉ. नगेन्द्र - अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ. 671
 2. डॉ. सभापति मिश्र - भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य काव्यचिन्तन, पृ. 206

को पूर्णता प्रदान करता है और उसे आदर्श रूप देता है। अतः अनुकरण को मात्र नकल नहीं कहा जा सकता। अरस्तू के अनुसार कवि वस्तुओं को यथास्थित रूप में वर्णित नहीं करता अपितु उनके युक्तियुक्त संभाव्य रूप में वर्णित करता है। काव्य में जिस मानव का चित्रण होता है वह सामान्य से अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। अथवा यथार्थ भी हो सकता है। वस्तुतः कवि सहृदय के आनन्द के लिए यह परिवर्तन करता है, क्योंकि ऐसा करने से कवि को आनंद मिलता है।

काव्य में मानवीय क्रिया-कलापों का अनुकरण होता है। कॉमदी और त्रासदी जैसे काव्य के भेदों से हीनतर एवं श्रेष्ठतर व्यक्तियों के कार्य व्यापार काव्य में प्रस्तुत करते हैं। अरस्तू ने अनुकरण का अर्थ कल्पनात्मक पुनर्निर्माण, पुनः सृजन अथवा सर्जन के आनन्द की अवस्थिति माना। उन्होंने अनुकरण को नया अर्थ प्रदान करते हुए कला का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया, कला को संवेदन एवं बिंब विधायिनी शक्ति से संपन्न माना तथा कलागत सौन्दर्य को शिवत्व से अधिक महत्व प्रदान किया। प्लेटो के द्वारा कला पर पवित्रता को दूषित करने का जो आरोप लगाया गया था उसे अरस्तू ने स्वीकार नहीं किया।

इस प्रकार अरस्तू ने काव्य को अनुकृति माना है। लेकिन ये अनुकृति केवल नकल नहीं। इसमें जीवन के बाह्य एवं आंतरिक पक्ष का सान्निध्य है। वस्तु सत्य के साथ कल्पना का भी संयोग से पाठक या दर्शक को आनंद प्रदान करना ही कला का चरम लक्ष्य है।

विरेचन सिद्धान्त

विरेचन सिद्धान्त मूलतः केथारसिस का हिन्दी अनुवाद है। जिसका अर्थ है - 'रेचन, परिशुद्धि या निष्कासन'। चिकित्साशास्त्र से संबन्धित यह शब्द रेचक औषधियों द्वारा शारीरिक विकारों को बाहर से निकालकर शरीर को शुद्ध करने की क्रिया को द्योतित करता है। साहित्य में इसे लागू करने का महत्व अरस्तू को है।

प्लेटो के मत में काव्य या कला से मानव के दूषित वासनाओं की पुष्टि होती है। इसी का खंडन करते हुए अरस्तू ने विरेचन सिद्धान्त की स्थापना की और यह प्रतिपादित किया कि कला या साहित्य के द्वारा मानव के दूषित वासनाओं का विरेचन होता है। अरस्तू ने कहा "ट्रैजडी में भय और करुणा का उद्रेक अवश्य होता है, किन्तु दर्शक जब इसका अभिनय देखता है तो उसके मन में संचित भय और करुणा के भाव उचित मात्रा में बाहर आकर उसे एक प्रकार की मानसिक विश्रान्ति प्रदान करते हैं। जिन भावों को वह भीतर दबाए रखता है वे उसको कुंठित करते रहते हैं। भावों का दमन तो और भी हानिकारक है।"¹

'विरेचन' से तात्पर्य केवल त्रास, करुणा आदि भावों के निष्कासन का नहीं है, किंतु उनके संतुलन का भी है। त्रास और करुणा के द्योतक एवं अनिष्टकर अंशों को अलग करके उनमें शक्ति भरना और सामंजस्य लाना ही विरेचन सिद्धान्त का उद्देश्य था। भावों का अतिरेक एवं भावों का सर्वदा

1. रामचन्द्र तिवारी - भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ. 130

अभाव-ये दोनो दशाएँ अनिष्टकर हैं। भावातिरेक में व्यक्ति मानिक संतुलन खो बैठता है, अभाव की स्थिति में तो वह जड़ हो जाता है, वह मानव ही नहीं रहता। अतः उक्त दोनों स्थितियों में संतुलन स्थापित करना ही विरेचन सिद्धांत का तात्पर्य था।

इसप्रकार अरस्तू ने अनुकरण और विरेचन सिद्धांत की स्थापना के द्वारा काव्य या कला की कसौटी आनंद माना है। अरस्तू की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि दर्शन, इतिहास राजनीति, आचार शास्त्र आदि की भाँति साहित्य भी एक गंभीर चिन्तन का विषय है। अनुकरण और विरेचन सिद्धान्तों की उसने जो व्याख्या की वह सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। अरस्तू ने ही पहली बार काव्य वस्तु के साथ उसके रूप पक्ष और शिल्प पर विचार किया। यह तो आज भी प्रासंगिक है।

लॉजाइनस

लॉजाइनस यूनान के तीसरी शती के महान दार्शनिक थे। उनकी रचना 'पेरिइप्सस' (On the subline) पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काफी चर्चित थी। उन्होंने काव्य के औदात्य तत्व पर बल देकर उसपर विचार-विश्लेषण किया। 'औदात्य' से तात्पर्य अभिव्यक्ति की उच्चता और उत्कृष्टता से है। अभिव्यक्ति की उच्चता श्रोता के तर्क का समाधान नहीं करती, अपितु उसे अभिभूत कर लेती है। रचना का औदात्य अपनी प्रबल शक्ति के द्वारा पाठक को

अनायास बहा ले जाता है। किसी रचना का शिल्प उसेक एक-दो अंशों से नहीं अपितु संपूर्ण रचना के शिल्प विधान से धीरे-धीरे प्रकाश में आता है। किन्तु उदात्त विचार यदि अवसर के अनुकूल हो तो एकाएक विद्युत् की भाँति चमककर समूची विषय वस्तु को प्रकाशित कर देता है और वक्ता के समस्त वाग्वैभव को एक क्षण में अभिव्यक्त कर देता है।

‘औदात्य’ एक भाव विचार है और शैली का गुण भी है। उसकी सत्ता काव्य रचना के वस्तुपक्ष एवं शैली पक्ष दोनों तक व्याप्त है। वह कलाकार के व्यक्तित्व का गुण भी है। जब कलाकार का व्यक्तित्व औदात्य से युक्त होता है, तो वह उदात्त विषय, उदात्त भाव एवं उदात्त विचारों को अपनी रचना में अपनाता है जिससे उसकी शैली में औदात्य का समावेश हो जाता है। इस औदात्य के कारण काव्य या कला पाठक या दर्शक को आनंद भी प्रदान करता है। “औदात्य या उदात्तता अभिव्यक्ति की विशिष्टता तथा उत्कृष्टता ही है और केवल इसी गुण से महान कवियों और लेखकों ने प्रतिष्ठा तथा अमर ख्याति अर्जित की है।”¹

लॉजाइनस ने औदात्य के पाँच तत्वों पर विचार किया है:- भव्य विचार, भावों की उत्कृष्टता, सुन्दर अलंकार योजना, उत्कृष्ट भाषा और गरिमामय वाक्य विन्यास। उनका मत यह है कि एक रचना तभी महान बन जाती है जब उसमें भव्य विचारों का समावेश होता है। यह भव्य विचार महान् व्यक्ति में ही होगा। काव्य रचना के संदर्भ में प्रसंगानुसार भावों का

1. कृष्णदत्त पालीवाल - हिन्दी आलोचना का सैद्धांतिक आधार, पृ.122

चयन करना चाहिए, इससे काव्य में भावोत्कृष्टता आ जाती है। अलंकारों के संबन्ध में उनका मानना है कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से करना चाहिए। अलंकार काव्य के साधन है, साध्य नहीं। काव्य की भाषा सर्वदा भावानुकूल, आडम्बर रहित एवं प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। काव्य के औदात्य के लिए प्रसंगानुकूल सरल, स्वाभाविक, परिष्कृत, ओज गुणयुक्त और गरिमामयी पदावली का प्रयोग करना अनिवार्य हैं। उनका अंतिम तत्व है गरिमामय रचनाविधान। रचनाविधान गरिमामय एवं अर्जित होना चाहिए। रचना का प्राण तत्व है सामंजस्य और इसके लिए उदात्त शैली अनिवार्य है। लॉजाइनस के अनुसार औदात्य के विरोधी तत्व हैं :- बिंबों की अस्पष्टता, वाणी में आडम्बर, वचकानापन, विषयानुरूप शब्दावली का अभाव, कटु भाषा और अभिव्यक्ति की क्षुद्रता आदि।

काव्य या साहित्य का चरम लक्ष्य आनंद प्रदान करना है। लॉजाइनस के अनुसार कवि जगत् के श्रेष्ठतम व्यक्ति हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त कोई भी अन्य व्यक्ति हमें लोकोत्तर आनंद प्रदान नहीं करता। यह आनंद साहित्य के द्वारा तभी प्राप्त कर सकता है, जब उसमें उदात्त का तत्व विद्यमान रहता है। इसप्रकार लॉजाइनस ने काव्य सौन्दर्य के प्रतिमान के रूप में उदात्त तत्व को हमारे सामने रखते हैं।

वर्ड्सवर्थ

1798 में वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज द्वारा प्रकाशित 'लिरिकल

बैलड्स' के द्वारा अंग्रेज़ी काव्य में स्वच्छंदतावाद का आरंभ हुआ। इसप्रकार 'लिरिकल बैलड्स' को अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद के घोषणा पत्र के रूप में माना जाता है। 18 वीं सदी के मध्य से क्लासिकी काव्य का अन्त हुआ और स्वच्छंदतावादी विचारों का प्रचार होने लगा। सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। इसप्रकार देखें तो अंग्रेज़ी काव्य में स्वच्छंदतावाद का जन्म अकारण नहीं था। एक ओर कवि के मन में उस समय तक लिखित अधिकाव्य के प्रति विश्वास नष्ट हो गया था तो दूसरी ओर सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ भी इसके अनुकूल नहीं थी। सन् 1776 में अंग्रेज़ी सत्ता के विरुद्ध अमेरिका ने क्रांति आरंभ की और 1782 में वह स्वतंत्र हुआ। फ्रांस में 1779 से राज्यक्रांति की लपटें आरंभ हो चुकी थी। साहित्याकारों ने समता एवं स्वतंत्रता के लिए अपना स्वर मुखरित कर रहा था। दुनिया के चारों दिशाओं से उपनिवेशवाद के विरुद्ध आन्दोलन आरंभ हुआ था। सामाजिक रूढ़ियाँ और कुप्रथाएँ भी अपना दम तोड़ रही थी। अब मानव अतीतमुखी न होकर, परंपरानुगामी न रहकर अपने युग के साथ अपने ढंग से जीना चाहता था।

'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में वर्ड्सवर्थ ने अपने काव्य संबंधी मान्यताओं पर विस्तार से विचार किया है। कविता के उद्देश्य, विषय, स्वरूप और भाषा को लेकर उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसमें विशिष्ट से उतरकर सामान्य के साथ जोड़ने की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। उनकी कविता में सामान्य ही विशिष्ट होकर उभरता है। वर्ड्सवर्थ के अनुसार "कविता प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन है।"¹ कविता वास्तव में हमें दिशा प्रदान करती

1. डॉ. भगीरथ मिश्र - काव्यशास्त्र, पृ. 12

है। इसलिए यह ज़रूर आवश्यक है कि कविता की विषयवस्तु और भाव दोनों महत्वपूर्ण होना चाहिए। कविता सत्य का उद्घाटन करती है, यह वैयक्तिक सत्य नहीं, व्यापक एवं व्यावहारिक सत्य है। भावनाओं के महत्व के कारण ही स्वच्छंदतावाद को उसके पूर्व काल की अपेक्षा ज़्यादा महत्व मिला है। वर्ड्सवर्थ के अनुसार- “कविता में उभरती भावना ही उसमें वर्णित कार्य तथा स्थिति को महत्व प्रदान करती है, भावना का महत्व कार्य तथा स्थिति पर आधारित नहीं होता।”¹

वर्ड्सवर्थ कविता में अनुभूति को प्रधानता देता है। यह अनुभूति गरिमामय तथा दार्शनिकता से पूर्ण होती है। कविता में सत्य की तलाश होती है इसलिए कवि का चिंतनशील होना भी आवश्यक है। कविता का अन्तिम लक्ष्य है पाठक को आनंद प्रदान करना। वर्ड्सवर्थ सामान्य के पक्षधर होने के कारण कविता में सामान्य जीवन और घटनाओं को स्थान देते हैं। शहर की कृत्रिमता को छोड़कर ग्रामीण जीवन की सरलता को काव्य की विषयवस्तु के रूप में वे चुनते हैं। उसमें प्रकृति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जब विषय सरल होता है तब उसकी भाषा भी सरल होती है। इसलिए काव्य के लिए सामान्य बोलचाल की भाषा को ही वे अभिकाम्य मानते हैं। साधारण जनता के लिए लिखे जाने के कारण कविता में आलंकारिक भाषा का बहिष्कार भी उन्होंने किया। वर्ड्सवर्थ के अनुसार गद्य और पद्य की भाषा में भेद नहीं होना चाहिए। श्रेष्ठ कविताओं के रोचक हिस्सों की भाषा गद्य भाषा के समान है। छंद, कविता के स्वाभाविक रूप है। कविता में विषयवस्तु ही प्रधान है और

1. निर्मला जैन - कुसुम बाँठिया, पाश्चात्य साहित्य चिंतन, पृ. 96

छंद का प्रयोग कविता में अनुशासन लाने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। मतलब, कविता जहाँ अत्यधिक उत्तेजना और आनंद या वेदना पैदा करती है और इससे मनःस्थिति के विश्रृंखल होने की संभावना पैदा हो जाती है वहाँ छंद की नियमित गति संतुलन लाती है क्योंकि इसी गति का अनुभव हम कम उत्तेजित मनःस्थिति में भी कर चुके होते हैं।

इसप्रकार वर्ड्सवर्थ ने काव्यभाषा और विषयवस्तु के क्षेत्र में नये सौन्दर्यबोध की स्थापना की। कविता में सामान्य जीवन और सामान्य भाषा के प्रयोग करके उसे मानव की अनुभूतियों के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। वर्ड्सवर्थ मूलतः कवि थे, फिर भी उनके काव्य सिद्धान्तों की चर्चा काव्य को नये ढंग से देखने और समझने के लिए पाठक को मज़बूर किया।

क्रोचे

इटली के प्रमुख दार्शनिक थे क्रोचे। साहित्य को अभिव्यंजनावाद से जोड़ने का प्रयत्न क्रोचे ने ही किया। 1900 ई. के अपने एक निबन्ध में उन्होंने 'अभिव्यंजनावाद' की मूलभूत अवधारणाओं को व्यक्त किया। उनका कला संबन्धी प्रमुख ग्रंथ 'Aesthetic' का अनुवाद विश्व की प्रमुख भाषाओं में हुआ है।

क्रोचे ने 'अभिव्यंजनावाद' को एक कला सिद्धान्त माना है, जिसका संबन्ध सौन्दर्यशास्त्र से है, साहित्यिक आलोचना से नहीं। परंपरा का विरोध जैसी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति अभिव्यंजनावाद का मूलआधार है। इसमें व्यक्ति

को ही प्रधानता दिया जाता है। इसी आन्दोलन के फलस्वरूप 'कला केलिए' सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ। क्रोचे की मान्यता है कि कलाकार अपनी कलाकृति में अपने अन्तर की अभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति बिंबात्मक होती है, जिसका स्वरूप उसके हृदय में विद्यमान रहता है, बाह्य जागत् से उसका कोई संबन्ध नहीं। बाह्य जगत् केवल बिम्ब निर्माण में सहायक हो सकता है।

क्रोचे ने ज्ञान के दो रूप माने हैं सहजानुभूति और, विचारात्मक। इनमें से प्रथम ज्ञान मनःशक्ति द्वारा उपलब्ध कराया जाता है, जबकि द्वितीय ज्ञान बुद्धि का विषय है। सहजानुभूति को किसी का सहारा नहीं चाहिए। क्रोचे यह भी मानते हैं कि प्रत्येक सहजानुभूति अभिव्यंजना है और प्रत्येक अभिव्यंजना कला है अतः यदि प्रत्येक सहजानुभूति को कला कह दिया जाए तो अनुचित न होगा।

क्रोचे की मान्यता है कि सामान्य व्यक्ति और कलाकार में सहजानुभूति की मात्रा में अन्तर होता है। कलाकार में यह सहजानुभूति व्यापक एवं विस्तृत होती है। प्रकृति की अनुकृति का वास्तविक अर्थ सहजानुभूति ही है अर्थात् प्रकृति के स्वरूप का जो बिम्ब हमारे मस्तिष्क में सहजानुभूति के रूप में उदित होता है, वही कला है। दूसरे शब्दों में उन्होंने 'अभिव्यंजना' को ही कला कहा है।

क्रोचे ने सहजानुभूति को एक आन्तरिक अनुभूति माना है जो स्वयं

प्रकाश्य है। उसे किसी अन्य साधन से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अन्तः प्रज्ञा और अभिव्यंजना का नित्य संबन्ध है, दोनों की सता सदा साथ रहती है। अभिव्यंजना से आनंद की अनुभूति होती है। यह आनन्द उस भाव को अभिव्यक्त करने के लिए उसे प्रेरित करता है। क्रोचे के मतानुसार प्रत्येक सहजानुभूति अवश्य ही अभिव्यक्त होती है। अभिव्यक्ति से उसका तात्पर्य केवल शाब्दिक व्यंजना से ही नहीं है, अपितु अशाब्दिक व्यंजनाओं-रूप, रंग रेखा, ध्वनि से भी है। वे कहते हैं - "Every true intuition or representation is also expression. That which does not objectily itself in expression is not intuition not obtain intuition other wise than by making forming expressing."¹

क्रोचे की यह भी धारणा है कि कलात्मक अनुभूति का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है, किन्तु अपनी कार्य पद्धति में वह साधारण सहजानुभूति से भिन्न नहीं होता। अतः उसका अन्तर तीव्रता में नहीं विस्तार में है। क्रोचे कलाकृति की एकता या अखण्डता में विश्वास करता है। कृति को विभिन्न अवयवों में विभाजित करके देखने पर उसका प्रभाव उसी तरह समाप्त हो जाता है, जैसे किसी जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों एवं मांसपेशियों में बांटकर देखने से जीवित प्राणी शव में बदल जाता है।

टी.एस इलियट

बीसवीं सदी के प्रसिद्ध कवि एवं समीक्षक थे टी.एस. इलियट।

1. डॉ. सभापति मिश्र - भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य काव्यचिन्तन, पृ. 267

उन्होंने दर्शन और साहित्य के गंभीर अध्ययन से समीक्षा के क्षेत्र में नवयुग की स्थापना की। उनकी प्रथम समीक्षा ग्रंथ 'दी सेक्रेड वुड' 1920 में प्रकाशित हुआ। 'द लव साँग ऑफ एलफर्ड प्रूफॉक' (1915) 'दे वेस्ट लैंड' (1922) आदि काव्य रचनाएं, 'मर्डर इन द कैथिहूल' (1935) 'फेमिली रियूनियन' (1929) 'द कॉकटेल पार्टी' (1950) आदि नाटकों की रचना भी उन्होंने की। 'द सेक्रेड वुड' के अतिरिक्त 'होमेज टु जॉन ड्राइडन', 'एलिज़ाबेथेन एसेज़', 'द यूज़ ऑफ पॉयट्री एंड द यबूज़ ऑफ क्रिटिसिज़्म' जैसे समीक्षाकात्मक ग्रंथ विशेष लोकप्रिय हुए।

आधुनिकता और परंपरा का मेल उनके विचारों में प्रकट है, यही उनकी विशेषता है। एक व्यवस्थित सिद्धान्त निरूपण नहीं करने पर भी इलियट के विचारों में अनेक विद्वान जनों का प्रभाव है। जहाँ रोमांटिक कवियों ने कविता को सहज अंतस्फूर्त सृष्टि माना है, वहाँ इलियट ने कविता को कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से पलायन माना है। इसका मतलब यह नहीं है कि इलियट व्यक्तित्व का विरोध करते हैं, बल्कि यह है कि जो व्यक्ति-तत्व होते हैं उसकी अधिक अभिव्यक्ति है। जहाँ तक निर्वैयक्तिकता की अवधारणा की बात है, इलियट कहते हैं कि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रश्न बेमानी है क्योंकि उसे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करनी ही नहीं है, वह तो अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। संभव है कवि के जीवन में जो संस्कार और अनुभूतियों महत्वपूर्ण हैं। उनका काव्य में कोई स्थान ही न हो और जो काव्य के लिए महत्वपूर्ण हो वह कवि जीवन में बिलकुल तुच्छ हो।

इलियट मानते हैं कि कवि का मन ऐसा पात्र है जिसमें संवेदन, वाक्य-खंड, बिंब आदि सिंचित रहते हैं। सर्जना के क्षण में या अपना स्वरूप त्यागकर और नये रूपों में संयोजित होकर कला का विग्रह धारण कर लेते हैं। इलियट की धारणा है कि काव्य में भावों की तीव्रता का महत्व नहीं होता वरन कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता का महत्व होता है, जिसमें विभिन्न भावों का संयोजन और विलयन होता है। इलियट भावों के स्वरूप में पूर्ण परिवर्तन स्वीकार करते हैं इसलिए वे सामान्य किसी भी अनुभूति से कलात्मक अनुभूति को विशिष्ट मानते हैं। इलियट की स्पष्ट मान्यता है कि “कवि का काम नए भावों को ढूँढना नहीं, अपितु साधारण भावों का उपयोग करके काव्य रूप देने की प्रक्रिया में उनसे ऐसे संवेदनों को व्यक्त करना है जो वास्तविक भावों में विद्यमान थे ही नहीं।”¹

जहाँ तक वैयक्तिकता का प्रश्न है, वहाँ इलियट इसे परंपरा से विच्छिन्न नहीं मानते हैं। उनका मानना है कि परंपरा से जुड़े रहकर ही कवि वैयक्तिक क्षमता को अधिक सफलतापूर्वक उजागर कर सकता है। किसी कवि की रचना में सर्वाधिक सशक्त अंश वही होता है जिनमें पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव जोरदार ढंग से व्यक्त हुआ होता है। जिस कवि ने परंपरा को जितना आत्मसात किया, जिसका इतिहास-बोध जितना गहन है उसी कवि ने अधिक ख्याति प्राप्त की और श्रेष्ठ कृति को जन्म दिया है।

कविता के घटक तत्व, विचार, अनुभूति, अनुभव, बिम्ब प्रतीक

1. निर्मला जैन -पाश्चात्य साहित्य चिंतन, पृ. 65

आदि सब व्यक्ति के निजी या वैयक्तिक होते हैं। कलाकार जब अपनी तीव्र संवेदना और ग्रहण शक्ति के माध्यम से अपने अनुभवों को काव्य रूप में प्रकट करता है तो वे व्यक्तिगत होते हुए भी सब के लिए अर्थात् सामान्य बन जाते हैं। कवि उनके भार से मुक्त हो जाता है या कहिए कि ये तत्व कवि की वैयक्तिकता से बहुत दूर चले जाते हैं या कहिए कि निर्वैयक्तिक हो जाते हैं। इलियट कि यह निश्चित मान्यता है कि कला में अभिव्यक्त भाव निर्वैयक्तिक होते हैं और कवि अपने को प्रकृति के प्रति समर्पित किए बिना निर्वैयक्तिक हो ही नहीं सकता।

पाश्चात्य देशों के कवि और विद्वानों ने सौन्दर्यशास्त्र के प्रति आरंभ से ही सचेष्ट होने के कारण वहाँ इसकी एक व्यवस्थित परंपरा क्रमबद्ध रूप में दिखाई पड़ती है। वहाँ सुन्दर को कोई वस्तुनिष्ठ मानता है तो कोई व्यक्तिनिष्ठ। पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र का केन्द्रीय विषय सौन्दर्य होने के कारण पाश्चात्य दार्शनिकों, समीक्षकों और विचारकों ने सौन्दर्य को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा है। यूनान के सुकरात, प्लेटो और अरस्तू आदि सौन्दर्य चिंतकों ने सौन्दर्य को परम और पूर्ण माना। उसे आकांक्षा और वासना से परे बताया गया। 1340-1798 तक के अंग्रेज़ी साहित्य में सभी कवि थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ परंपरागत नियमों में बँधकर, शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए ईश्वरीय मंगलकर्ता और नैतिकता में ही सौन्दर्य की सत्ता मानते रहे और 'कला जीवन के लिए' इस काव्य प्रयोजन के प्रबल समर्थक बने रहे। लेकिन स्वच्छंदतावाद के विकास के साथ कविता पूर्णतः स्वच्छंद

घोषित कर दी गई। इस युग के कवियों में सौन्दर्य-चेतना उसकी चरम सीमा पर दिखाई देती है। उनकी सौन्दर्य-भावना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने समाज के शोषित और उपेक्षित वर्ग में सौन्दर्यानुभूति की सृष्टि देखी। 20 वीं शताब्दी के कवियों ने सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ माना। उनके अनुसार 'साहित्य अमूर्त भावनाओं का मूर्त रूप है।' टी.एस. इलियट ने तो सौन्दर्य के इस स्वर को मुखर करने के लिए 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' का सिद्धान्त भी बनाया है। इस प्रकार यूरोप में सौन्दर्य-चर्चा की एक सुदीर्घ परंपरा दिखाई देती है।

हिन्दी काव्य का सौन्दर्यबोध

हिन्दी काव्य में सौन्दर्यबोध की परंपरा का आरंभ आदिकाल में रचित रासो काव्य तथा विद्यापति की पदावली से होता है। इस काल की रचनाओं में वीर रस एवं श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। इस युग को अधिकांश रचनाकार राजाश्रित थे। इसलिए राजा की वीरता और महानता का वर्णन रचनाओं का मुख्य विषय रहा। सभी रासो काव्य में वीर रस की प्रधानता है। यह इसलिए है कि, इसमें युद्धों का सजीव वर्णन है। वीर रस के साथ साथ श्रृंगार रस का अंकन भी इस काल में हुआ। दोनों रस के केन्द्र में नारी है। उसे पाने के लिए युद्ध होते हैं और पा लेने पर जीवन का विलासी पक्ष अपनी पूरी रमणीयता के साथ उभरता है। विद्यापति की रचनाओं में और रासो काव्य में नारी सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण है। इसप्रकार आदिकालीन काव्य के सौन्दर्य बोध के मूल में वीरता और श्रृंगारिकता भाव ही अधिक है।

भक्तिकालीन काव्य सौन्दर्य, आदिकाल के दरबारी काव्य सौन्दर्य

से मुक्त होकर एक स्वच्छंद पथ को प्रशस्त किया। कवियों ने भिन्न-भिन्न तरीके से सौन्दर्य बोध के स्वरूप को चित्रित किया है। भक्ति साहित्य का सौन्दर्य बोध लोक केन्द्रित था। साकार और निराकार ईश्वर के प्रति भक्ति-भावना इस युग की मुख्य विशेषता है। लेकिन भक्तिकालीन कवियों ने सभी बाह्याडंबरों और अंधविश्वासों का विद्रोह किया। ये लोक में व्याप्त कट्टर आचरणों से मानव को मुक्ति दिलाकर मानव प्रेम की स्थापना करना चाहते थे। लोकभाषा में अपनी बात को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास और मीराबाई का महत्वपूर्ण स्थान है। इसप्रकार भक्तिकालीन काव्य सौन्दर्य के मूल में लोक कल्याण की भावना निहित है। भक्तिकालीन कवियों ने प्रेम, भक्ति और ज्ञान के माध्यम से संपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति दी है।

रीतिकालीन काव्य की रचना सामंती परिवेश और उसकी छत्रछाया में हुई। इसलिए दरबारी साहित्य का समस्त लक्षण इसमें पाया जाता है। संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण करके रीतिकाल में लक्षणग्रंथों का निर्माण हुआ। लेकिन रीति-निरूपण में इन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। शृंगारिकता रीतिकालीन काव्य की मुख्य पहचान है। नारी के मांसल देहवर्णन में रीतिकालीन काव्य के भोगवादी दृष्टिकोण सुस्पष्ट है। नारी के प्रति इस कामुक दृष्टि के कारण कवि प्रेम के उच्चतर सोपनों की ओर नहीं जा सके। इस विलासी वातावरण के कारण रीतिकालीन काव्य में अलंकार का ज़्यादा प्रयोग हुआ है, जिससे कवि चमत्कारप्रदर्शन उत्पन्न करता है। इसप्रकार रीतिबद्ध और रीति सिद्ध कवियों ने स्थूल एवं मांसल सौन्दर्य का वर्णन

किया है तो, रीतिमुक्त कवियों ने सौन्दर्य के सूक्ष्म एवं मनोरम वर्णन किया है।

आधुनिक काल में प्रवेश करते ही कविता का संबन्ध जनजीवन के साथ गहन रूप में हुआ। प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की घटना भारत में एक नयी चेतना जगायी। रीतिकाल के विलासपूर्ण मादक प्रभाव से मुक्त होकर वह नवयुग की अंगड़ाई लेने लगी। राजनीतिक, समाजिक धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रभाव ने कविता के कत्य और शिल्प के क्षेत्र को परिवर्तित किया। जिससे उसके सौन्दर्यबोध संबन्धी नयी मानसिकताओं का विकास हुआ। उन सभी का संक्षिप्त विवेचन आगे दिया जाएगा।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में नवीन युग का सूत्रपात हुआ। हर दृष्टि से भारतेन्दु काल साहित्य के लिए मौलिक रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही भारतेन्दु युग का प्रारंभ होता है। गद्य के विकास के साथ साथ काव्य के क्षेत्र में भी एक नवीन चेतना इस युग में दिखाई पडती है। इस चेतना के विकास एवं परिष्कार में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का योगदान है। भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवियों को रीतिकालीन अतिशय श्रृंगारिक चित्रण, नायिका भेद, नख-शिख वर्णन, चमत्कारिक प्रदर्शन आदि आकृष्ट नहीं करते थे।

भारतेन्दु काल में देश में अंग्रेज़ी शासन चल रहा था। सब कहीं अंग्रेज़ी वर्चस्व था। विदेशी शासन से भारत में कुटीर धंधों का विनाश हो

गया। कृषि पर नियंत्रण आ गया। किसानों का आर्थिक शोषण करने लगा। इसप्रकार भारतवासियों के ऊपर चल रहे सारे अन्याय के विरोध में देश व्यापक विद्रोह हुआ। इस युग के लेखक देश की दुर्दशा पर चिंतित थे। केवल काव्य में ही नहीं बल्कि पूरे साहित्य में देशानुराग कूट-कूट कर भरा है। एक विशेष तरह की राष्ट्रीय चेतना का स्वर भारतेन्दु युगीन साहित्य में परिलक्षित होते हैं। भारतेन्दु की कविता पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने लिखा है कि : “नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश भक्ति का था। ‘नीलदेवी’ ‘भारतदुर्दशा’ आदि नाटकों के भीतर आयी हुई कविताओं में देश दशा की जो मार्मिक व्यंजना है वह तो है ही, बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं, जिनमें कहीं देश की अतीत गौरवगाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जनी हुई चिंता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।”¹

भारतेन्दुकाल राजनीतिक दासता का दौर है। इसलिए इस गुलामी से मुक्ति पाने के लिए एकजुड़ होकर लड़ने की प्रेरणा तत्कालीन समय के सभी कविताओं में भरपूर थी। भारत एक बहुभाषी, बहु सांस्कृतिक देश है। फिर भी देशरूपी छत के नीचे सभी भारतवासी एक है। रचनाकार के लिए देश का कल्याण ही मुख्य लक्ष्य है। इसलिए वे उस पुरानी ढाँचे को बदलना चाहते हैं। समाज की सारी कुरीतियों को सुधारना चाहते हैं। लेकिन इसका

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 143

मतलब केवल यह नहीं कि भारतेन्दु काल का साहित्य केवल राजनीतिक साहित्य है। बल्कि मनुष्य की एकता का, भाईचारे का, मानवतावाद की प्रतिष्ठा का भी साहित्य है। भारतेन्दुयुगीन रचनाकार अपने देश की सामाजिक समस्याओं से परिचित थे और इसलिए वे इन्हीं समस्याओं को काव्य के मुख्य कथ्य के रूप में भी अपनाया। इसप्रकार सामाजिक समस्याओं को गहराई में उठाने के साथ जनता को इसके प्रति जागरूक कराना भी रचनाकार अपना दायित्व समझा। समाज की प्रचलित कुरीतियाँ, शोषण, नारी उत्पीड़न, पाश्चात्य कुप्रभाव, पुलिस की अत्याचार, लूट-खसोट आदि समस्याएँ कविता का विषय बना। साथ ही हमारी संस्कृति, अतीत का गौरव आदि को वर्णन का विषय बनाने को भी नहीं भूला। इसप्रकार भारतेन्दुकालीन कविताओं में राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ गंभीर सामाजिक चेतना का भी विकास परिलक्षित होता है।

विदेशी दासता से मुक्ति पाने के लिए भारतीय जनमानस में आत्म गौरव और जातीय स्वाभिमान को जगाना बहुत ही ज़रूरी था। जब तक जनता में यह विश्वास नहीं जाग उठता, तब तक ब्रिटीश शासन से मुक्ति संभव नहीं है। इसके लिए आवश्यक है भारतीय जनता अपनी अस्मिता को, अपनी सत्ता को पहचानें। इसके लिए जातीय भाषा के रूप में खड़ीबोली हिन्दी का विकास भी भारतेन्दु युग की महत्वपूर्ण देन है। 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' का नारा भारतेन्दु ने दिया ताकि एक भाषा के माध्यम से सारे देश की जनता एकजुट हो, स्वाधीनता की लड़ाई मज़बूती के

साथ लड सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने आधुनिक हिन्दी कविता में भारतेन्दु के योगदान पर प्रकाश डालते हुए कहा है - “भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोडकर जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इसप्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड रहा था, उसे उन्होंने दूर किया।”¹ भारतेन्दु मण्डल के ही कवि थे बदरीनारायण चौधरी ‘प्रेमघन’। इन्होंने भी काव्य के बाह्य उपकरणों में भाषा और अलंकार पर अपना मत प्रकट किया है। इनका मानना है कि कवि काव्य की रचना से भाषा का उपकार करता है। इन्होंने भाषा में पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति का विरोध करके उसमें सहजता, स्वाभाविकता और स्वारम्य के समावेश पर बल दिया है। अलंकार को साधन मानते हुए उसे परिस्थिति विशेष में ही स्वीकार्य माना है। खड़ीबोली में कविता लिखने के अनेकों प्रयोग शुरू हुए और ये शुरूआती प्रयोग हिन्दी कविता के भविष्य के लिए बड़े महत्वपूर्ण प्रमाणित हुए। इनके ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है - “खड़ीबोली में तब तक जो भी कविता लिखी गयी है, उसे पढते हुए आज एक विचित्र आनंद का अनुभव होता है। एक नये माध्यम में महान लेखक अटपटा रहे हैं परंतु अतिशय सतर्कता के नीचे उन्होंने अपने आपको दबा नहीं दिया। जो स्वच्छंदता उनके गद्य में है उसकी छाप उनकी कविता पर भी है। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने आँखों पर ब्रजभाषा प्रेम की पट्टी न बाँधकर गद्यवादी भाषा में भी प्रयोग किये। उन प्रयोगों से नयी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त हुआ।”²

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 323

2. रामविलास शर्मा - महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 120

संक्षेप में कह सकते हैं कि भारतेन्दुयुगीन साहित्य विषयवस्तु एवं भाषा के क्षेत्र में नवीन चेतना का समर्थन करते हैं। भारतेन्दुयुगीन काव्य आधुनिक हिन्दी कविता का पहला सोपान है। इसलिए पूर्ववर्ती काव्य परंपराओं से भिन्न एक परिवर्तित काव्य स्वरूप एवं प्रवृत्तियाँ इस युग की कविताओं में हैं। कविता या साहित्य को उच्चवर्गीय धरातलों से उतारकर उसे जीवन, जगत और समाज से जुड़ने की अभिलाषा ने विवेच्य युग की कविता को नया तेवर प्रदान किया है। लेकिन यह भी कहना चाहिए कि नवीनता के साथ-साथ प्राचीन परंपराओं से भारतेन्दुयुगीन काव्य पूर्णतः मुक्त नहीं थे। फिर भी काव्य के वर्ण्य विषय के द्वारा, भाषागत एकता पर बल देते हुए देश की मुक्ति के लिए जनता को एकसाथ जुड़ाने का जो प्रयास भारतेन्दुकालीन कविताओं में हुआ वह प्रशंसनीय ही है।

3.2 द्विवेदी युग

आधुनिक हिन्दी कविता का दूसरा चरण है द्विवेदी युग। भारतेन्दुकालीन प्राचीनता के मोह के विरोध में द्विवेदी युग का आरंभ होता है। लेकिन भारतेन्दु युग में जिन नवीन चेतना का विकास हुआ उसे आगे बढ़ाने के साथ एक निश्चित रूप प्रदान करने का श्रेय भी द्विवेदी युगीन कविता को प्राप्त होता है। इस युग की समूची साहित्य चेतना के सूत्रपात आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया। 1900 में प्रकाशित 'सरस्वती' पत्रिका से इस युग का आरंभ माना जाता है। प्रस्तुत समय अंग्रेज़ी शासन का दमन चक्र पूरे

ज़ोरों पर था। देश के राजनैतिक, आर्थिक क्षेत्रों पर ही नहीं सामाजिक क्षेत्रों में भी अंग्रेज़ों की कुटनीति का कुप्रभाव पडा। दीन-हीन एवं असहाय जनता इस पारतंत्रता से मुक्ति चाहते थे और देश के प्रत्येक व्यक्ति में यह राष्ट्रीय चेतना प्रस्फुटित थी।

भारतेन्दुकाल जन-जागरण का प्रारंभिक दौर था। उस समय जनता के सामने राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। द्विवेदी युग में राष्ट्रीय भावना और आदर्श की भावना जनमानस में आई थी। भारतेन्दु काल में रूढियों का विरोध करना सुधार तक सीमित था परन्तु अब साहित्य में नाना आदर्शों की सृष्टि हुई और उसने एक स्वच्छंद भाषा के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया। परंपरा को छोड़कर साहित्य में पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं तथा चरित्रों को राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से अभिव्यक्त किया जाने लगा। जब लोग अपने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव को विस्मृत करते जा रहे थे, ऐसे में उन्हें अपने राष्ट्रीय गौरव और आदर्शों की ओर उन्मुख करना बहुत महत्वपूर्ण कार्य कहा जा सकता है। द्विवेदी युग पुनरुत्थान का युग है। द्विवेदी युग में देश के हर स्तर पर परिवर्तन का क्रम बहुत ज़ोर से चलने लगा था। इसलिए द्विवेदीयुगीन रचनाकार पुनरुत्थान का संकल्प लिया। राष्ट्रीयता का स्वर द्विवेदी युग के लगभग सभी कवियों में सुनाई देता है। इस समय राष्ट्रीय उन्नति को व्यक्तिगत उन्नति से ऊँचा समझकर भारत की सांस्कृतिक परंपरा को पुनर्जीवित करने की रचनात्मक कोशिश की गयी।

द्विवेदी युग में केवल राष्ट्रीय सुधार ही नहीं बल्कि धार्मिक, सामाजिक सुधार भी विद्यमान है। इसलिए द्विवेदी युग जागरण-सुधार काल भी कहा जा सकता है। द्विवेदीयुगीन काव्य में ऐसे पात्रों को स्थान मिला जो शताब्दियों से उपेक्षित थे। अब साहित्य में मध्य वर्ग के साथ-साथ निम्न व किसान पीड़ित एवं दलितों को चित्रण भी होने लगा। इसके पूर्व के काल में कविता में मानव को वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई थी जो द्विवेदी युग में मिली है। मानव मात्र के सुख-दुख और परिस्थितियों का वर्णन काव्य में बड़े ही प्रभावकारी ढंग से किया जाने लगा। इस प्रकार द्विवेदी युगीन साहित्य में मानवतावाद की प्रतिष्ठा है। तत्कालीन समय देश की एकता एवं विकास के लिए बाधक तत्वों के रूप में अनेक सामाजिक समस्याएँ मौजूद थी। जाति व्यवस्था, नारी शोषण, अंधविश्वास आदि सामाजिक समस्याओं के पीछे के कारण अशिक्षा एवं अज्ञान थे। इसलिए इसे दूर करना बहुत ही ज़रूरी था। द्विवेदी युगीन कवियों ने काव्य के क्षेत्र में वर्ण्य विस्तार का जो प्रयास किया, वह बहुत ही सराहनीय है।

द्विवेदीयुगीन साहित्य में सबसे बड़ा परिवर्तन भाषा के क्षेत्र में हुआ। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में भाषा के क्षेत्र में किये गए परिवर्तन अतुलनीय ही है। उन्होंने गद्य और पद्य के बीच में भाषागत जो भेद थे उसे मिटा दिया। दोनों के लिए खड़ीबोली भाषा का प्रयोग किया। साथ ही व्याकरण सम्मत प्रयोग पर अत्यधिक बल दिया। भाषा में स्वच्छता एवं परिपक्वता लाने का प्रयास किया। छंदों में भी भारी परिवर्तन किया। द्विवेदी

युगीन कवि छंदों के सीमित दायरे से मुक्त होकर लगभग सभी छंदों का प्रयोग कविता में प्रयुक्त करने लगा।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा कविता के मूल्यांकन के उन मापदण्डों को रेखांकित किया है, जहाँ साहित्य के भाव-तत्त्व युग के नये आदर्शों, साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि, कवि के साथ समीक्षक के तादात्म्य को महत्व दिया गया है। द्विवेदी जी ने साहित्य को राष्ट्र की नई आकांक्षाओं के साथ जोड़ने का काम किया है। देशभक्ति की भावना, वर्ण्य विषय में विस्तार, भाषा परिष्कार, नैतिकता आदि तत्त्व द्विवेदीयुगीन कविता के मुख्य प्रतिमानों के रूप में खड़े होते हैं।

छायावाद

आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में छायावाद युग का समय 1918 से 1936 तक है। छायावादी कविता दो महायुद्धों के बीच की कविता है। साहित्य के क्षेत्र में हमेशा यही चलते आ रहे हैं कि पूर्ववर्ती युग के अभावों को दूर करते हुए परवर्ती युग का आरंभ। इसप्रकार छायावाद युग भी द्विवेदीयुगीन नीरस, उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक काव्यप्रवृत्तियों के विरोध करके स्वच्छंदता एवं सरसता के साथ अवतरित हुआ। इसकेलिए उसने प्रकृति को माध्यम बनाया। प्रकृति के माध्यम से जब मानव-भावनाओं का चित्रण होने लगा, तब छायावाद का जन्म हुआ। सुमित्रानन्दन पंत के विचार में - “संपूर्ण हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि में छायावादी कविता एक

नये ऐतिहासिक बोध से संयुक्त, एक सार्वभौमिक मानवतावाद को नैतिक मूल्य के रूप में स्वीकृत कर कविता को उसकी कलात्मकता और नैतिक चेतना में सार्वभौमिक क्षण तक ले जाने का सर्वथा एक नया प्रयत्न है।”¹

छायावादी कविताओं में मुक्ति की छटपटाहट है। भारत के अतीत के गौरव के प्रति सचेष्ट छायावादी कवि व्यक्ति की स्वाधीनता के साथ-साथ हर प्रकार की दासता के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं। यह दासता आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक किसी प्रकार की भी हो सकती है। छायावादी काल में भारतीय जनमानस पर देश को स्वतंत्र कराने की चेतना भरपूर थी। इसलिए छायावादी काव्य विषय में राष्ट्रीयता एवं स्वदेशानुराग आदि बातों की उपस्थिति स्वाभाविक है। छायावादी कवि एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जो शोषण से मुक्त हो, जहाँ अन्याय और अत्याचार के लिए कोई स्थान न हो। वे समता, स्वतंत्रता न्याय के समर्थक थे और सामाजिक विषमता को पूर्ण रूप से मिटाने चाहते थे। छायावादी काव्य, वैयक्तिक स्वाधीनता पर भी बल देती है। देश की मुक्ति, व्यक्ति की मुक्ति से ही संभव है। छायावादी कवि व्यक्तिवाद को प्रधानता देता है। छायावादी कविता प्रयुक्त ‘मैं’ अहम को संबोधित करनेवाला है। वैयक्तिक सुख-दुःख की अभिव्यक्ति, व्यक्तित्व की महत्ता एवं उसके प्रति अगाध विश्वास छायावादी कविताओं में मुखरित है:- “केवल आध्यात्मिक पक्ष या दार्शनिक अनुभूति ही छायावाद नहीं है। छायावादी कविता मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है,

1. श्री. सुमित्रानंदन पंत - तारापथ (भूमिका), पृ. 18

जिसमें मध्ययुगीन अवशेषों से युक्त भारतीय समाज और व्यक्ति के बीच व्यवधान और विरोध को वाणी मिली है। प्रथम महायुद्धोत्तर हिन्दी कविता जाति, महाजाति अथवा महत्वपूर्ण आदर्श या उपास्य व्यक्तियों के सुख-दुःख की नहीं, वरन् व्यक्ति के सुख-दुःख की कहानी है। विषयवस्तु की खोज में कवि बाहर नहीं अपने मन के भीतर ही झाँकता है।¹ वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण छायावादी कवि कभी कभी रहस्यावादी भी बन जाते हैं। वैयक्तिकता ही रहस्यवाद का मूल आधार है। इसमें परोक्ष की जो अनुभूति है, वह वैयक्तिक है, व्यक्ति की अनुभूति है। रहस्यावादी कवि को सृष्टि के प्रत्येक अंश से प्रेम है या प्रत्येक अंश में उसे अपने व्यक्तिगत प्रेम की झलक दिखाई पड़ती है। प्रेम की यह भावना लौकिक न होकर अलौकिक होती है जिसमें जीवात्मा की पीड़ा, वेदना, टीस एवं कसक का वर्णन किया जाता है।

छायावादी काव्य प्रेम और सौन्दर्य का काव्य है। छायावाद युग में ऐसा कोई भी कवि नहीं है जिन्होंने अपनी कविता में प्रेम का चित्रण न किया हो। यह प्रेमभावना सिर्फ मानव-मानव के बीच सीमित नहीं थी। पूरी प्रकृति के प्रति उनके मन में प्रेम भाव थे। छायावाद युग में द्विवेदी युग की आत्म निग्रही जीवन दृष्टि के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति एवं अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य के प्रभाव के कारण छायावादी काव्य प्रेमभावना से संपन्न बन गये।

छायावादी कवि के मन में प्रकृति के प्रति भी असीम प्रेमभावना है।

1. डॉ. शिवकुमार शर्मा - हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ. 495

प्रकृति के साथ रागात्मक संबन्ध स्थापित करके उसे नये अर्थ में प्रयोग करने का प्रयास इस युग में हुआ था। डॉ. नामवरसिंह छायावादी कवियों के इस प्रकृति प्रेम का कारण सामाजिक मानते हैं। सामाजिक बंधनों से मुक्ति के लिए व्यक्ति प्रकृति पर आश्रित हुआ। नामवर जी के शब्दों में “आधुनिक व्यक्ति का प्रकृति की ओर दौडना व्यक्तिगत स्वच्छंदता की आकांक्षा के लिए तो था ही, व्यक्तिगत स्वाधीनता का परिणाम भी था।”¹ प्रकृति का मानवीकरण तो पहले से होता आया था। छायावादी कवियों ने उसका वैयक्तीकरण किया। छायावादी काव्य प्रकृति में चेतना का आरोप किया। प्रकृति को सहधर्मिणी, सहचरी और प्रिया के रूप में चित्रित करके मानव और प्रकृति के बीच के अभेद्य संबन्ध एवं प्रेम को छायावादी कवियों अपनी कविताओं के माध्यम से मुखरित किया।

छायावाद मानवतावादी चेतना का साहित्य है। मानवतावाद में केवल मनुष्य को महत्व देता है। वह मनुष्य को उसकी पूरी शक्ति और सीमाओं के साथ स्वीकारता है उसे गतिशील मानता है। उन्होंने मानवीय प्रेम, सद्भाव आदि को ही मानव संबन्धों का मूल तत्व मानकर धर्ममयी, पद संपत्ति, जाति-पांति आदि के बाहरी अवरोधक विधानों को अस्वीकार किया है। मानवतावादी चेतना से प्रेरित इन कवियों ने प्रेम के आधार पर मानव को एक करने का भी प्रयत्न किया।

छायावादी कवियों ने कल्पना को काव्य के केन्द्र में रखा और इसी

1. डॉ. नामवरसिंह - छायावाद, पृ. 33

से छायावादी कविता के स्वरूप भी कुछ और हो गया। यह कल्पना बाहर के अनुशासन का फल नहीं होता, अंतर्दृष्टि की उपज होती है। अंतर्दृष्टि ही कल्पना है। कल्पना जीवन का प्राण है। जिन समस्याओं का उत्तर शास्त्र में नहीं मिलती, उसका उत्तर हम कल्पना में ढूँढ निकालते हैं। इसलिए छायावादी कवि कल्पना की काफी प्रशंसा करते हैं। छायावादी काव्य कल्पना प्रधान काव्य है। कल्पना के प्रयोग से काव्य की सौन्दर्य बढ़ती है। छायावादी काव्य में कल्पना सीमित क्षेत्रों को पार करके नये क्षेत्रों तक की यात्राएँ करती है, नये अनुभवों से जुड़ती है, नयी दृष्टि से उन्मेषित होती है सौन्दर्य और सत्य के नये स्वरूपों को देखती है और उन्हें रूपायित करने के लिए बिंब और नवीन शिल्पशक्तियों का प्रयोग करती है। छायावादी कल्पना में जगत् की निर्माण की भावना है। छायावादी कल्पना में भविष्य दृष्टि है। इसप्रकार छायावाद की वैयक्तिकता, सामाजिकता एवं कल्पना एक नयी मानवता का सृजन के लिए आतुर कवि व्यक्तित्वों के सशक्त उपादान हैं। अतः छायावादी कल्पना को पलायनवाद समझना सही नहीं है।

भाव के क्षेत्र में ही नहीं शिल्पगत पक्ष पर भी मुक्ति का स्वर छायावादी कविताओं में है। काव्य शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त होकर कविता लिखने की प्रवृत्ति छायावाद काल में शुरू हुई। छंद संबन्धी पुरानी मान्यताओं को परिवर्तित करके छन्द मुक्त कविता का प्रयोग छायावाद युग में ही प्रारंभ हुआ। छायावादी कवि मुक्त छन्द में कविता लिखने से सरलता एवं स्वच्छंदता अनुभव करते हैं। निराला जी ने लिखा है- “मनुष्यों की मुक्ति की तरह

कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना है।”¹

छायावाद में सौन्दर्य चेतना का अत्यंत विकसित रूप देखने को मिलता है। हिन्दी कविता में मानवीय, प्राकृतिक अथवा भावात्मक सौन्दर्य का जैसा उद्घाटन छायावाद युग में हुआ वह पूर्ववर्ती काल से बिलकुल भिन्न है। पहले कवियों का सौन्दर्यबोध ऊपरी या सतही प्रतीत होता है तो छायावाद के कवियों ने स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म तथा वास्तविक की अपेक्षा भावात्मक सौन्दर्य का चित्रण किया। इस दृष्टि से छायावादी सौन्दर्य चेतना नवीन महसूस होता है।

3.4 प्रगतिवाद

प्रत्येक काव्यान्दोलन अपने पूर्ववर्ती काव्यान्दोलन की कमियों का परिष्कार करते हुए पल्लवित होते हैं। प्रगतिवादी काव्य भी छायावाद की वैयक्तिकता, रुमानियता या काल्पनिकता के स्थान पर सामाजिक यथार्थ की वाणी के रूप में प्रकट हुआ। डॉ. शिवकुमार शर्मा का कथन इसप्रकार है कि : “प्रगतिवाद युगीन आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों तज्जन्य प्रभावों के फलस्वरूप विषाक्त, जड़, कुंठित और वायवी हो जानेवाले इन क्षेत्रों के वातावरण की उपज है, जिसने व्यक्ति के स्थान पर समाज और जन जीवन के कल्याण की निराशा, पराजय और श्रयी रोमांस के स्थान पर समाप्त आकार, उत्साह, स्वास्थ्य प्रेम की दिशाओं में साहित्य

1. निराला - परिमल (भूमिका) पृ. 12

को गतिशील किया, उसने हिन्दी कविता को एक नयी जीवन चेतना प्रदान की जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।”¹

1935 तक आते आते छायावाद का अंत हो गया। छायावादी कवि जहाँ यथार्थ से विपरीत आत्मविभोर कल्पना लोक में डूबा था वहीं प्रगतिवादी आर्थिक प्रश्नों को उठा रहे थे। इसप्रकार प्रगतिवादी काव्य यथार्थ की ठोस भूमि पर अवतरित हुआ। परिस्थितियों जटिल होती जा रही थी। देश की जनता अपने अधिकारों के प्रति सजग होने लगी और विश्व में घटित घटनाओं की ओर भी उनकी दृष्टि उठ रही थी। “सन् 1936 के आसपास फैलनेवाला समाजवादी प्रभाव, दूसरा महायुद्ध, उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न आर्थिक-राजनीतिक संकट, महँगाई, बेकारी, सन् 1942 की क्रांति उसका दमन, मज़दूरों की ऐतिहासिक हड़तालें, किसानों के जागृत अभियान और सबसे बढ़कर बंगाल का अकाल आदि वे कारण हैं जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी गति देकर, उसे अधिक सचेष्टता से मात्र राजनीतिक ही नहीं प्रत्युत आर्थिक स्वाधीनता के लिए भी सक्रिय रूप से प्रयत्नशील होने को बाध्य किया।”²

प्रगतिवादी काव्य मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित है। मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव न केवल भारत में, बल्कि पूरे विश्व भर भी व्यापक रूप से पडा। मार्क्स की धारणा है कि व्यक्ति के आर्थिक, राजनीतिक

1. शिवकुमार मिश्र - नया हिन्दी काव्य, पृ. 150

2. वही - पृ. 147

सामाजिक और नैतिक विकास के मूल में अर्थ है। जिसप्रकार भौतिक पदार्थों का संगठन विश्व है ठीक उसी प्रकार आर्थिक सुव्यवस्था का परिणाम अच्छा समाज होता है। प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक यथार्थ की व्यापक अभिव्यक्ति मिलती है। प्रगतिवादी कवि का मानना है कि कविता तभी जीवंत बनती है जब वह जन जीवन के साथ उनकी भावनाओं के साथ जुड़ी हुई रहती हैं। कविता शक्तिशाली तब बन जाती है जब वह यथार्थ की भूमि पर हो। साहित्य के लिए आवश्यक है वह कलात्मक सत्यता के साथ जीवन में व्याप्त यथार्थ को प्रतिबिंबित करें। प्रगतिवादी समय में भारतीय समाज दयनीय अवस्था में गुज़र रहा था। औद्योगिक क्रांति के कारण समाज में दो वर्गों का उदय हुआ। एक तो पूँजिपति वर्ग और दूसरा मज़दूर वर्ग। अब पूँजी कम से कम हाथों में सीमित रहने लगी। मध्यवर्ग तथा सर्वहारा की संख्या में वृद्धि हो गयी थी। फलतः शोषण की प्रक्रिया भी तीव्र हो गयी थी। गाँवों की स्थिति भी शोचनीय थी। ब्रिटीश शासन नीति ने कुटीर उद्योग धंधों एवं कला कौशल को नष्ट कर दिया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय किसान एवं मज़दूर वर्ग पर बोझ बढ़ा और निर्धनता एवं बैकारी की समस्या से वे त्रस्त होने लगे। मज़दूर वर्ग में वर्ग चेतना का विकास हुआ। उनकी स्थिति इतनी दयनीय थी कि न रहने के लिए समुचित व्यवस्था थी और न उपयुक्त पारिश्रमिक मिलता था। इसलिए मज़दूर वर्ग में विद्रोह की भावना जगाने लगी। मज़दूरों की ही तरह कृषकों में भी संघर्ष चेतना का विकास हुआ। प्रगतिवादियों में शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह एवं शोषितों के प्रति करुणा एवं गहरी सहानुभूति की

भावना है। प्रगतिवादियों की दृष्टि में शोषण सहना, शोषण करने से भी बड़ा अपराध है। वर्ग चेतना सर्वप्रथम प्रगतिवादी काव्य में दृष्टिगत होता है। डॉ. दुर्गाप्रसाद ने लिखा है:- “प्रगतिशील की वर्गचेतना उसकी मानवतावादी भाव प्रवृत्ति का ही प्रसूत तत्व है।”¹ सामन्ती व्यवस्था की क्रूर शोषण और नग्न आर्थिक स्वार्थ पर आधारित पूँजीवादी वृत्ति का अत्यन्त मार्मिक प्रस्तुतीकरण प्रगतिशील कविता में मिलता है। प्रगतिवादी साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना चाहते हैं। जिस समाज में कोई वर्ग न हो उस समाज में कोई विषमता भी नहीं होगी।

1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के उपरान्त साहित्य में व्याप्त सक्रियता को साहित्य की समस्त विधाओं में देखा जा सकता है। पंत का कथने हैं कि:- “इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारणा कर लिया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलनेवाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न जडित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गयी है। अतएवं इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है और युग जीवन ने उसके चिर-संचित स्वप्नों को जो चुनौती दी है उसे स्वीकार करना पड़ रहा है। हमारा उद्देश्य उस इमारत में यूनियों लगाने का कदापि नहीं है, जिसका कि गिरना अवश्यंभावी है। हम तो चाहते हैं, उस नवीन के निर्माण

1. डॉ. दुर्गाप्रसाद झाला - प्रगतिशील हिन्दी कविता, पृ. 144

में सहायक होना, जिसका प्रादुर्भाव हो चुका है। वह नवीन समाजवैज्ञानिक विचारों और आदर्शों से पुष्टि पाता हुआ असंख्य जनता के कल्याण को ही अपना ध्येय मानता है। यदि हम में सत्य के प्रति वास्तविक उत्साह है, तो हम अपने महान उत्तरदायित्व की अवहेलना नहीं कर सकते।.. हमारा निश्चित ध्येय प्रगति की शक्तियों को सक्रिय सहयोग देना ही होगा।”¹

प्रगतिवादी कवि समाज सापेक्ष व्यक्ति की ही कल्पना करते हैं। एकाकी व्यक्ति का उसके लिए कोई महत्व नहीं। इस प्रकार वह व्यक्तिवादी भावधारा का विरोध करता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता को भी वह समाज-सापेक्ष रूप में स्वीकार करता है। इसलिए प्रगतिवादी कवि व्यक्ति को, उसकी स्वतंत्रता को महत्व देता है। लेकिन व्यक्तिवादी और अहंवादी प्रवृत्ति का विरोध करता है। इस प्रकार प्रगतिवादी काव्य समष्टिवाद की स्थापना करती है।

डॉ. नामवर सिंह एक मार्क्सवादी साहित्यकार है इसलिए वे काव्य को इसी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने का प्रयास किया। वे चाहते हैं कि कविता को सामाजिक संदर्भ में देखना चाहिए और मानवतावाद की प्रतिष्ठा भी काव्य द्वारा होना चाहिए:-“जिसका मानवतावाद जितना ही स्पष्ट और मूर्त होगा, उसके चित्रों और पात्रों में भी उतनी ही सजीवता होगी क्या उसकी भाषा भी उतनी ही सहज स्वाभावित, संवेद्य और ओजस्विनी होगी। हम दूसरों को धोखा दे सकते हैं लेकिन अपने आपको नहीं और जो साहित्यकार

1. तारसप्तक (वक्तव्य) अज्ञेय, पृ. 176, 178

ऐसा करने का प्रयत्न करता है, वह तमाम शिल्पज्ञान के बावजूद अपनी कला का चौपट करता है। इसलिए विषयवस्तु पर ज़ोर देने का सही अर्थ है मूर्त और ठोस रूप में युग सत्य का पहचानना और स्पष्ट रूप से मानव जयवाहिनी का पक्षपाती होना।”¹

इसप्रकार प्रगतिवादी काव्य यथार्थवाद, शोषण के विरोध में क्रांति का स्वर, समाज एवं मानव की कल्याण, सामाजिक-आर्थिक दृष्टि को अपने सौन्दर्यबोध के आधार रूप में प्रतिष्ठित करते हुए आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में उपस्थित हुए हैं।

प्रयोगवाद

1943 में प्रकाशित तारसप्तक के साथ काव्य जगत में एक नवीन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसे प्रयोगवाद के नाम से जाना जाता है। प्रयोगवादी साहित्य की पृष्ठभूमि द्वितीय विश्व महायुद्ध एवं तत्कालीन समय के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ थी। उसके साथ अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, अतियथार्थवाद जैसी पाश्चात्य विचारधाराओं ने भी प्रयोगवादी साहित्य को ज़रूर प्रभावित किया। तत्कालीन समय में देश की परिस्थितियाँ कुछ जटिल थी। एक ओर कवि देश की विषमतापूर्ण स्थिति से मुक्ति के लिए कोशिश कर रहे थे तो दूसरी ओर वे इस परिस्थितिजन्य विषमता, पीडा, अवसाद, पराजय और निराशा की अभिव्यक्ति में ही लिप्त थे। इसप्रकार कवि वर्ग की स्थिति भी काफी उलझ सी गयी थी तथा वह अपने को समाज

1. डॉ. नामवरसिंह - इतिहास और आलोचना, पृ., 31, 32

से कटा नितान्त असहाय महसूस करने लगा था और परिस्थितियों के बीच ही संतोषप्रद परिवृत्त ढूँढने की कोशिश करने लगा था। ऐसे ही में कुछ ने प्रयोगवादी भावधारा का प्रणयन किया।

प्रयोगवादी कवि ने काव्य के क्षेत्र में नये नये प्रयोगों पर बल दिया। काव्य वस्तु की अपेक्षा, शैली-शिल्प की ओर विशेष ध्यान दिया गया तथा भाषा-प्रयोग, छंद एवं अलंकार, प्रयोग, प्रतीकों एवं उपमानों का प्रयोग आदि सभी क्षेत्रों में नये नये प्रयोगों की सृष्टि की। प्रयोगवाद, प्रगतिवाद के विरोध के रूप में अवतरित हुआ। जहाँ प्रगतिवादी साहित्य समाज को केन्द्रीय स्थान दिया वहाँ प्रयोगवादी कवि व्यक्ति की महत्ता एवं उसकी अस्तित्व बोध पर बल दिया। दूसरी बात यह है कि प्रगतिवादी काव्य वस्तुपक्ष पर विशेष लगाव दिखाया तो प्रयोगवादी कवि शैली पर नया प्रयोग करने पर तत्पर थे।

एक संगठित आन्दोलन के रूप में काव्य के क्षेत्र में नये प्रयोगों का आरंभ 'तारसप्तक' (1943) के प्रकाशन के साथ हुआ। इसलिए प्रयोगवाद के प्रमुख प्रवर्तक के रूप में अज्ञेय को माना जाता है। 'तारसप्तक', सात कवियों के संकलन हैं। लेकिन सात कवियों का एकजुट हो जाना किसी दलबन्दी का सूचक नहीं है। अज्ञेय ने तारसप्तक की भूमिका में इसप्रकार लिखा है कि :- "यह परिणाम न निकाला जाए कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं या कि साहित्य जगत के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी

एक स्कूल के नहीं है, किसी मंज़िल पर पहुँचे नहीं है, अभी राही है - राही नहीं राहों के अन्वेषी हैं।”¹

प्रयोगवादी काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी व्यक्तिवादी या अहंवादी चेतना। लेकिन छायावाद युग के समान प्रयोगवादी कवि युगीन परिस्थितियों से कटकर नहीं, परिवेश से जुड़ी व्यक्तिवादी भावना कायम थी। तत्कालीन परिस्थितियों से कवि दुखी थे और इस पर वे स्वयं असहाय महसूस करते थे। प्रयोगवादी काव्य में अस्तित्व को नये रूप में प्रस्तुत कराने का प्रयास देख सकते हैं। प्रयोगवादी कवियों को अपने अहं पर पूर्ण विश्वास है और वे अहं के सहारे ही आगे बढ़ने में पूर्ण विश्वास रखते हैं। वह व्यक्ति स्वतंत्रता या व्यक्ति महत्ता की स्थापना करता है, साथ ही वह अपने को समष्टि में समर्पित करने का भाव भी रखते हैं।

प्रयोगवादी काव्य में अस्तित्ववाद का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिलक्षित है। अस्तित्ववाद जिसप्रकार व्यक्ति को उसके विविध संदर्भों में देखने का परामर्श देता है, वैसे ही प्रयोगशील कवि भी व्यक्तिवादिता का पक्षधर होने के कारण व्यक्ति को उसके समग्र परिवेश में देखने का प्रयास करता है। व्यक्ति प्रयोगवादी कविता के केन्द्र में है। इसलिए प्रयोगशील कविता में व्यक्ति जीवन की अन्य स्थितियों के अतिरिक्त कुंठा, निराश, अनास्था, लघुता के प्रति आस्था आदि की अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रा में होती है। प्रयोगशील कविता में अस्तित्ववाद का क्षण संबन्धी आग्रह स्पष्ट रूप में

1. सं. अज्ञेय (दूसरा संस्करण) तारसप्तक, पृ. 12

दृष्टिगोचर होता है। क्षण के संबन्ध में अज्ञेय नं 'लिखि कागद कोरे' में अपनी मान्यता इसप्रकार प्रकट की है।- "सच्चा वर्तमान ऐसा क्षण है जिसके साथ न तो स्मृति का आभास है न प्रत्याशा या अपेक्षा का क्योंकि एक अतीत का लक्षण है दूसरा भविष्य का। दोनों प्रकार की छायाओं से मुक्त असंपृक्त क्षण ही वर्तमान है। गणित के बिन्दु की तरह इसका कोई आयाम नहीं होता, केवल अस्तित्व होता है। कवि का काम इसी क्षण को पकड़ना या कि ऐसे क्षणों की श्रृंखला को पकड़ते चलना है।"¹

प्रयोगशील कविता मानव के लघु से लघु परिवेश मर्यादा की रक्षा का उपक्रम है। मनुष्य को महामानव के रूप में ग्रहण करने के स्थान पर 'लघुमानव', छोटे परिवेश में विराटता का दर्शन करना प्रयोगशील कवि का वैशिष्ट्य है:- "लघुमानव को उसकी समस्त हीनता और महत्ता के संदर्भ में प्रस्तुत करके प्रयोगवादी कविता ने उसके प्रति सहानुभूतिमय दृष्टि से सोचने का एक नया रास्ता खोला। आदमी अपनी सारी कमज़ोरियों, हीनताओं, लघुताओं और महत्ताओं के बीच यथार्थ है।"² जहाँ प्रगतिवादी साहित्य में जीवन के बाह्य यथार्थों के अंकन पर ज़ोर दिया है तो प्रयोगवादी काव्य ने बाह्य यथार्थ के साथ साथ आंतरिक यथार्थ के उद्घाटन को भी महत्व दिया।

प्रगतिवादी साहित्य साम्यवादी विचारधारा के आधार पर विकसित आन्दोलन है। इसलिए वह समाज को और जीवन के अन्य अंगों के यथार्थ को उस साम्यवादी दृष्टिकोण से विश्लेषित किया, पर प्रयोगवादी इससे भिन्न

1. अज्ञेय - लिखित कागद कोरे, पृ. 83

2. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास - चतुर्दशा भाग, पृ. 149

है। उनकेलिए अपना दृष्टिकोण है और वही उनकेलिए सबकुछ है। जीवन की अनुभूतियाँ जो उसे जिस रूप में प्राप्त होती हैं और फिर उन्हें जिस ढंग से व्यक्त कर सकता है, वही उस केलिए कला की उच्चतम पराकाष्ठा है। न वह भावनाओं को छिपाने, संवारने, सुधारने में विश्वास रखता है और न शैली भाषा आदि को निखारने में। उस केलिए ये सब प्रयोग ही हैं जिसप्रकार जीवन ही चिर प्रयोग।

नयी कविता

प्रयोगवादी कविता का अगला चरण है नयी कविता। नयी कविता के प्रमुख प्रवर्तकों में अधिकांश कवि प्रयोगवाद के ही हैं। 'नयी कविता' के नामकरण का श्रेय अज्ञेय को ही है। नयी कविता के पहले की कविताएँ स्वाधीनता पूर्व की हैं। लेकिन नयी कविता आन्दोलन स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् उदित हुआ। इसलिए नयी कविता की परिस्थितियाँ पूर्ववर्ती काव्यान्दोलनों से भिन्न थीं। पूर्ववर्ती कविताओं में जो राजनीतिक सामाजिक संघर्ष की चिंता थी, वह नयी कविता में नहीं थी। नयी कविता के पास एक नयी परिस्थिति है। वह इस नयी परिस्थिति में संघर्षरत मानव के भोगे हुए यथार्थ का जीवित सत्य है। नयी कविता में कवि की दृष्टि, विषय वस्तु, सौन्दर्य बोध, शिल्प सबकुछ नया है। विभिन्न पत्रिकाओं जैसे नये पत्ते (सं. लक्ष्मीकांत वर्मा एवं डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, 1953) नयी कविता (सं. डॉ. जगदीश गुप्त एवं रामस्वरूप चतुर्वेदी, 1954) 'निकष' (डॉ. धर्मवीर भारती एवं लक्ष्मीकांत वर्मा) के प्रकाशनों से इसे नयी कविता को बल मिला। श्री. लक्ष्मीकांत वर्मा

का अभिमत है कि “नयी कविता में मानव व्यक्तित्व को उभारने और उनमें आत्मविश्वास और आस्था के साथ सामाजिक दायित्व की भावना भरने के अंकुर विद्यमान हैं। इन्हें कोई भी प्रचार कुण्ठित नहीं कर सकता, कोई भी विवाद इन उगते अंकुरों के साहस को रोक नहीं सकता, क्योंकि इनका पक्ष यथार्थ का है। इनकी दृष्टि में कौतूहल है और इनकी साँसों में संघर्ष की वह धडकन है जो प्रत्येक क्षण के दायित्व को निभाने की वाणी मुखरित करती है।”¹

नयी कविता समस्त कुंठाओं और वर्जनाओं के साथ मुक्त यथार्थ का समर्थन करती है। बौद्धिकता के विशेष आग्रह के साथ नयी कविता ‘क्षण’ के महत्व को भी बखूबी समझती है। नयी कविता आधुनिक बोध की संवाहिक रही है। स्वतंत्रता के बाद की स्थितियों में जन्मे नये मूल्यबोध इसके प्रेरक तत्व के रूप में माने जाते हैं। नई कविता के ‘आधुनिक बोध’ पर मुक्तिबोध की टिप्पणी बहुत ही तीखी है। रघुवंश जी ने प्रयोगवादी और नयी कविता को ही आधुनिक कविता कहा है। उनके अनुसार “स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से काव्य के क्षेत्र में आधुनिकता का जो दृष्टिकोण अधिकाधिक स्पष्ट होकर विकसित हो रहा है और नये मूल्यों की उपलब्धि कर रहा है, उसकी भूमिका प्रयोगकालीन कवियों की बौद्धिक जागरूकता, आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति, वैज्ञानिक दृष्टि तथा युग के विघटित मूल्यों के प्रति अनास्था में देखी जा सकती है।”²

1. लक्ष्मीकांतद वर्मा - नयी कविता के प्रतिमान, पृ. 292

2. डॉ. रघुवंश - साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ. 145

नयी कविता का संबन्ध सामाजिक यथार्थ से है। मानव जीवन और समाज में व्याप्त इन विविध यथार्थ रूपों का चित्र नयी कविता के सामाजिक पक्ष को पुष्ट करता है। सामाजिक जीवन की विकृतियों, मज़बूरियों और असमर्थताओं के स्पष्ट और खुले चित्र नये कवि ने उतारे हैं। नयी कविता के एक सशक्त कवि हैं मुक्तिबोध। वे मानसिक यथार्थ को भी वस्तुगत यथार्थ के रूप में देखने का प्रस्ताव करते हैं। उनके लिए “विषय के यथार्थ के यथातथ्य भावनात्मक चित्रण का कार्य एक वैसा ही घोर अवतरित और सुदीर्घ संघर्ष है, जैसे भारत का वर्तमान जीवन।”¹ इस तरह कविता का यथार्थ अपने आप में कितना बीहड क्षेत्र है इस तथ्य से मुक्तिबोध भलि-भाँति परिचित है।

नयी कविता को संतुलित दृष्टिकोण की कविता माना जाता है। पर उसमें भी विचारधारा की केन्द्रीयता है। एक ओर वह अस्तित्ववादी विचारधारा की पकड़ में थी तो दूसरी ओर मार्क्सवादी। इन दोनों की अलग अलग धाराएँ नयी कविता में सर्वत्र स्पष्ट है। अस्तित्ववाद के प्रभाव के कारण अनिश्चितता, अस्थिरता एवं अकेलापन नई कविता की मुख्य प्रवृत्ति बन गयी तो मार्क्सवादी विचार के कारण व्यवस्था विरोधी स्वर उभर आए। पर एक नई व्यवस्था संबन्धी स्पष्ट रूप दिखाई नहीं दे रहा था। इसलिए नई कवितावाला पूरा माहौल इस अनाथत्व से आपूरित रहा। अनाथत्व सचमुच आधुनिकता की देन है जिसने केन्द्रीयता की प्रासंगिकता के सामने प्रश्न चिह्न लगा दिया।

1. मुक्तिबोध रचनावली - भाग पाँच, पृ. 296

कविता एक ऐसी संश्लिष्ट कृति है कि इसमें हम परिवेश और परिवेशमुक्त सत्य को अलग करके नहीं देख सकते। नयी कविता का स्वर अपने परिवेश की जीवनानुभूति से रचित है। नयी कविता में शहरी जीवन और ग्रामीण जीवन इन दोनों परिवेश को लेकर लिखने वाले कवि शामिल हैं। अज्ञेय एक ऐसे कवि है जिनका अनुभव क्षेत्र बड़ा व्यापक है। शहरी जीवन और देहाती जीवन की तीव्र चेतना इनकी कविताओं को व्यापक रूप देती है। किंतु सभी कवियों का बोध अज्ञेय के समान व्यापक नहीं है। नये कवि परिवेश को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत अवश्य किया है। वह तो समसामायिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान के प्रत्येक जीवन्त क्षण को कविता में प्रयोग करने में भी सक्रिय रहा।

नई कविता को अपने नये भावबोध और सौन्दर्यबोध को व्यक्त करने के लिए एक नई भाषा और नये शिल्प विधान की आवश्यकता थी। उसने इन अभिव्यक्त माध्यमों की तलाश की जिससे नयी कविता परवर्ती कविता से सर्वदा भिन्न दिखने लगी। नई कविता तक आते आते काव्य स्वरूप में बदलाव लाने का प्रयास स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर प्रबन्ध काव्य तो लिखा, लेकिन पौराणिक कथा और मिथकों को नवीन व्याख्या भी उनकी मौलिकता है। नई कविता के दौर में लंबी कविताएँ लिखने की परंपरा भी आरंभ हुई। लोक संपृक्तता नयी कविता की खास विशेषता है। लोकजीवन के प्रति नई कविता का रुझान प्रगतिवाद से प्राप्त हुई थी। नई कविता में प्रयुक्त सभी उपमान जीवन के

बदलते परिवेश से ग्रहण किये गये हैं। प्रतीक विधान भावों की गहनतम अभिव्यक्ति के माध्यम बन कर नई कविता में आये हैं। उनके द्वारा अमूर्त, अदृश्य, अश्रय और अप्रस्तुत विषय का प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य व प्रस्तुत रूप में किया जाता रहा है।

इस प्रकार यह विदित है कि आत्मानुभूति की सक्रियता, बौद्धिक जागरूकता, परिवर्तित संस्कारगत एवं भावनात्मक मूल्य, यथार्थ की अभिव्यक्ति का आग्रह, भोगे हुए सत्य का उद्घाटन भावगत नवीनता तथा नवीन अभिव्यंजना पद्धति आदि प्रतिमान नयी कविता के सौन्दर्य स्वरूप के मानक बनकर प्रतिष्ठित हुए हैं।

अकविता

‘अकविता’ आन्दोलन का आगमन 1960 के बाद हुआ है। इसे प्रतिष्ठित करने का प्रयास 1963 में जगदीश चतुर्वेदी ने ‘प्रारंभ’ नामक काव्यसंकलन में किया था। अकविता का सबसे प्रसिद्ध काव्य संग्रह ‘विजय’ है, (1967) जिसमें तीन रचनाकारों-गंगा प्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, तथा श्याम परमार की रचनाएँ संकलित थी। तात्पर्य यह है कि अकविता का विकास पत्र-पत्रिकाओं एवं काव्य संकलनों के माध्यम से ही हुआ था। इसके प्रमुख कवि थे - जगदीश चतुर्वेदी, गंगा प्रसाद विमल, कुमार विमल, श्याम परमार, राजकमल चौधरी, मणिका मोहिनी ... आदि।

अकविता वास्तव में नई कविता के समन्वयात्मक दृष्टिकोण के खिलाफ का विद्रोह था। इन्होंने अकविता का नाम इसलिए रखा कि वे परंपरागत कविता रीति और दृष्टि को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना है कि अपनी कविता, कविता नहीं, अकविता है और हम कवि नहीं अकवि हैं। मतलब हमारी कविता कुछ अलग किस्म की कविता है और हम कुछ अलग कहनेवाले कवि। इस अलग कहने में उनका विद्रोह शामिल है। अकवियों का विद्रोह सचमुच वर्तमान सामाजिक असंगतियों के खिलाफ ही था, पर कुछ अलग ढंग से। याने कि नंगे यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए उसके प्रति सख्त विद्रोह अश्लील लगनेवाली भाषा में ज़ाहिर करते थे। अकविता, अस्वीकृति का नवोन्मेष है। श्याम परमार के शब्दों में :- “अकविता’ शब्द क्रमशः हिन्दी कविता में उभरते नये अंदाज़ के लिए पारिभाषिक शब्द हो चला है। अतः ‘अकविता’ शब्द ‘कविता विरोधी’ शब्द नहीं रह गया है। उसे ‘एन्टी’ या ‘नॉनपोएट्री’ कहना भी उतना ही सख्त है जितना कि यह आरोपित करना कि अकविता में कविता नहीं है।”¹

अकविता का स्वर अपने युग के प्रति व्यापक निराशा, असंतोष आक्रोश से उत्पन्न है। यह कविता उन कवियों द्वारा रची गई है जो आज़ादी के बाद पैदा हुए और उसे चारों ओर केवल अनैतिकता, अव्यवस्था मानवमूल्यों का विघटन और संत्रास की स्थिति देखने को मिली है। यह कविता उन लोगों की है जो सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों के बीच बुरी तरह से शोषित और दिशाशून्य है और अपने अस्तित्व को अहसूस नहीं

1. श्याम परमार - अकविता और कला संदर्भ, पृ. 15

करपाते। अपने अस्तित्व के प्रति शंकालु होने के कारण इनमें आक्रोश, विक्षोभ, अनास्था और घुटन का स्वर है।

अकविता एक ओर आर्थिक विषमता और शोषण को शब्द देती है, दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बल देती है। वह विघटन यंत्रणा, संकट और मृत्यु की कविता भी है। अकवि अपने अलावा समस्त मानव समूह को एक अरूप और अनाम भीड़ मानती है। नगर में रहनेवाला व्यक्ति एक ओर अस्तित्व रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे थे तो दूसरी ओर वर्ग विभक्त समाज के रिश्तों में आत्मकेन्द्रित होता चला जाता है। संबन्धहीनता, व्यर्थता बोध और अप्रतिबद्धता के कारण व्यक्ति निषेध की ओर बढ़ता है। अकविता का मूल स्वर संपूर्ण निषेध का पर्याय हो गया है।

अकविता का रुख संपूर्ण रूप से परंपराभंजक का हो जाता है। समाज में जितनी भी छद्म संस्कृतियाँ व्याप्त हैं उनके विरुद्ध अकविता कार्य करती है। यही कारण है कि अकविता, विविधता का पर्याय बनकर उभरती है। अकविता में यौन बिन्दु और यौन परिदृश्यों का खुला विस्तार मिलता है। सेक्स जीवन की अनिवार्य दैहिक आवश्यकता है, जो स्वाभाविक भी है। भारतीय सभ्यता-संस्कृति इस पर खुलकर बात करना नहीं चाहती। यहीं पर अकविता के कवियों ने यौन विषयों पर खुलकर कविताएँ लिखी जिससे सामाजिक मर्यादाओं का आदर्श हिलने लगा। यौनगत विद्रोह के बारे में श्याम परमार का कहना है कि “सेक्स अनुभूति झिझक और झोंप से अलग

हो गयी है, बल्कि वह इतनी उघड गयी है, स्वीकृत मान्यताओं के नाते इतनी अपराधी हो गयी कि उसमें उसका स्निग्ध पक्ष सदा के लिए सदा समाप्त हो गया। कामुक विह्वलता तीखे व्यंग्य और अतर्क विडंबनाओं में बदल गयी... गोपन भाव की समाप्ति अकविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।”¹

अकविता के मूल में ही निषेध व नकार निहित है। यदि विषय राजनीति है तो पूरी राजनीतिक व्यवस्था को नकारने की क्षमता अकविता के कवियों में विद्यमान है। क्योंकि वे यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि राजनीति का प्रत्येक संगठन घृणास्पद कुचक्र का अंग है। इसलिए अकविता के कवियों को न तो वामपंथी माना जाता है और न ही दक्षिण पंथी। साथ ही साथ ये देशभक्ति के दावे भी पेश नहीं करते। अकविता अन्तर्विरोधों के अन्वेषक के रूप में अन्तर्जगत को उद्घाटित करनेवाली कविता है। अकविता के कवियों ने अपने आन्तरिक सत्य और उसकी अस्मिता को वाणी दी है।

अकवि सभ्य समाज को असभ्य लगनेवाली भाषा में अपनी प्रतिरोध ज़ाहिर करता है। वे नंगे यथार्थ को पस्तुत करते हुए उसके प्रति सख्त विद्रोह अश्लील लगनेवाली भाषा में ज़ाहिर करते थे। अकवियों ने रचना की सौन्दर्यात्मक परंपरा को तोड़कर एक नई भाषिक संरचना तथा नए सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण की सृष्टि की। इसप्रकार विषय और शिल्प की दृष्टि से अकविता अपने पूर्ववर्ती काव्यान्दोलनों से बिल्कुल भिन्न है। सौन्दर्य संबंधीनवीन मानसिकता अकविता की अपनी विशेषता है।

1. श्याम परमार - अकविता और कला संदर्भ, पृ. 15

साठोत्तरी कविता

अकविता के समानान्तर भी सामाजिक यथार्थ को कविता का विषय बनाते हुए साम्यवादी धारा भी काव्य क्षेत्र में बनी रहीं। अकविता के समानान्तर यह धारा चलती रही। उसे साठोत्तरी कविता कहीं गई। लेकिन यह काव्यधारा भी विचारधारा केन्द्रित थी। उनकी विचारधारा नक्सलवादी विचारधारा थी। धूमिल, लीलाधर जगूडी, वेणुगोपाल, सौमित्र मोहन, चंद्रकान्त देवताले जैसे कवियों ने इस विचारधारा के तहत वर्तमान व्यवस्था के प्रति अपना विद्रोह ज़ाहिर किया है।

आज़ादी के बाद राजनीति व्यक्तिनिष्ठ होने लगी, राजनीतिक और बौद्धिक वर्ग के बीच एक उदासीनता, अलगाव, परस्पर संशय और अपरिपक्वता का भाव बढ़ा। सन् 1960 तक भारतीय जनता ने आज़ादी के बारह-तेरह साल भोग लिये थे। नेहरू की मृत्यु और चीन के साथ युद्ध ने हमारी नयी सोच और बदली मानसिकता के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। देश की आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ नहीं हो सकी थी। देश में गरीबी, बेकारी, महँगाई, बाढ़-अकाल बने रहे। यह सब भारतीय जन जीवन को पिसती रही।

सन् साठ के बाद के साहित्यकारों ने भारतीय संस्कृति की परंपरागत प्रणाली को नकार दिया। इस कारण उनके अन्तर एक विद्रोह की भावना उभरकर सामने आयी। इस युग के कवि अस्मिता की रक्षा हेतु निषेध करते रहे। निषेध कवि को समाज या परिवार प्रतिष्ठा या वैराग्य, अपमान या

आदर सभी चीड़ें एक जैसी निरर्थक प्रतीत होती है। साठोत्तरी कविता के जो स्वर प्रमुख रूप से मुखर हो रहा है, वह है वर्तमान का तीव्र अस्वीकार अर्थात् वर्तमान व्यवस्था का निषेध की भावना।

सन् साठ के बाद के साहित्यकार सभ्यता के परिचायक उपकरणों को उतारकर फेंक देना चाहते थे। पारंपरिक जीवनबोध ने सोच और मानसिकता को निर्मित किया। स्वतंत्रता के समय देशवासियों ने भविष्य का एक सुनहला सपना देखा था। किन्तु वह सब टूट गया। कवि ने राजनीतिज्ञों पर व्यंग्य किया। पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति भी कवि का विद्रोह प्रकट होता है। पूँजीवति वर्ग भी समाज की शत्रु है।

इस युग के कवि किसी स्थिति विशेष के प्रति नहीं बल्कि पूरी मानव सभ्यता को उधेडकर सामने रखने के लिए प्रयत्नशील जान पड़ता है। समाज उसके लिए केवल एक भीड़ है। साठोत्तरी कवि वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक है, लेकिन फिर भी कवि समाज से अलगव अनुभव करता है।

आज़ादी के पश्चात् विभिन्न कारणों से संयुक्त परिवार प्रणाली टूटती और एकल परिवार की प्रवृत्ति बढ़ी। अकेलापन मूल्यहीनता और निरर्थकता बोध में जन्मी इस प्रकृति की एक अन्य विशेषता यह है कि यह अपने अलावा समस्त मानव समूह को एक अनाम भीड़ मानती है।

इस दौर की कविताओं में राजनीतिक, सामाजिक अन्तर्वस्तु की चेतना को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। इन कविताओं में अमानवीय

क्रूरताओं को विसंगतियों एवं विद्रूपताओं के माध्यम से कवि ने व्यक्त किया है। राजनीतिक विसंगतियों पर प्रहार करनेवाली कविताएँ अत्यंत ही प्रभावशाली है। राजनीतिक संदर्भों से अलग होकर आर्थिक-सामाजिक शोषण, सांप्रदायिक भेदभाव, बुद्धिजीवियों की तटस्थ नीति के ऊपर कवि ने व्यंग्य बाण चलाया। युवा कवि आक्रामक मुद्रा में अपनी नाराज़गी व्यक्त करता है। कविता में आक्रोश मात्र स्थितियों को देखकर बैठे रहने में नहीं बल्कि आगे बढ़कर अन्यायपूर्ण स्थिति का सक्रिय विरोध भी करने में भी है। विजय कुमार जी क्रान्ति की भावना के बारे में कहते हैं कि- “इस दौर के अनेक रचनाकार, रचनाकर्म को ही वास्तविक जीवन समर और क्रान्ति का विकल्प मान बैठते हैं। ऐसा लगता है जैसे मात्र कविता के बल पर ही वे मौजूदा समाज में उथल-पुथल मचा देना चाहते हैं और जब ऐसा नहीं होता तो कवि निराश हो जाता है।”¹

देश भर में दिनोंदिन बढ़ते आर्थिक और राजनीतिक संकट युवाकवियों के मन में विक्षोभ भर दिया। जिससे उसमें एक ओर राजनीतिक व्यवस्था के प्रति तीव्र घृणा का भाव था तो दूसरी ओर उस व्यवस्था के टूटने की छटपटाहट भी थी। कवि देख रहा था कि इस जनतंत्र में वही आदमी सुखी है, जिसकी आत्मा मर चुकी है, जिसका पेट भरा हुआ है। यह सुख और सुविधा दूसरों के शोषण और उपभोग पर टिकी है। वर्ग-विषमता का भाव समाज में इतना व्याप्त था कि शोषण वर्ग, शोषितों के कष्टों के बारे में बिलकुल उदासीन है।

1. विजय कुमार - साठोत्तरी हिन्दी कविता: परिवर्तित दिशाएँ, पृ. 96

साठोत्तर कविता में नक्सलवादी संघर्ष के पीछे की राजनीति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्रस्तुत आंदोलन के सक्रिय आकामक भाव को कविता में उसी ढंग से प्रस्तुत करने के कारण कविता में विषयवस्तु, संवेदना, लहजे, भाषा, फार्म आदि में एक नया सौन्दर्यबोध दिखाई पड़ता है। इस युग के कवियों ने अन्याय और शोषण के विरुद्ध भीतर की चीख को कविता का विषय बनाना चाहा है। अपने रचनाकर्म को लेकर पूर्ववर्ती कवियों के बजाय कहीं अधिक वक्तव्य उन्होंने दिया है। यह एक बदलते हुए समय में रचनाकार की भिन्न भूमिका की ओर संकेत है।

साठोत्तरी कविता गद्य की ओर बढ़ती जा रही है। जब कविता गद्यात्मकता की ओर बढ़ती है तो सपाटबयानी स्वाभाविक रूप से कविता में आ जाती है। नयी कविता के अतिशय बिंबों, शब्दाडंबरों के भार से यह सपाटबयानी कविता की मुक्ति करती है। इसकी सार्थकता इस बात में होती कि वह जीवन के महत्वपूर्ण गंभीर सत्य को ईमानदारी के साथ सरल भाषा में प्रकट करती है। साठोत्तरी कविता की भाषा में रोज़मर्रा की ज़िन्दगी तथा मानवीय रिश्तों की सच्चाई अपने आप आ गई। इनकी भाषा जनभाषा के साथ मिलकर चलती जान पड़ती है। व्यंग्यात्मकता भी साठोत्तर कविता की प्रमुख विशेषता रही है। संक्षेप में, राजनीतिक विमर्श की नयी सशक्त धारा साठोत्तर हिन्दी कविता से ही शुरू होती है।

समकालीन कविता

हिन्दी का समकालीन साहित्य अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष करते हुए अपने सामाजिक सरोकार को प्रमाणित करनेवाला है। समकालीन साहित्य समय के यथार्थ को प्रस्तुत करके उसके प्रति अपना विरोध भी ज़ाहिर करते हैं जो मानव के लिए विरोधी है। मनुष्य को मानवोचित जीवन जीने का अधिकार दिलाना ही इसका प्रमुख उद्देश्य है।

समकालीनता एक दृष्टिकोण है। समय की सच को तटस्थता के साथ परखने की क्षमता किसी को समकालीन बनाती है। समकालीनता वर्तमान जीवन प्रणाली की जटिलता को पूरी समग्रता में सूक्ष्मता के साथ व्याख्यायित, परिमार्जित एवं प्रतिक्रियान्वित करनेवाली गहरी समझ का नाम है। वह एक जागरूक चेतना है। राजेश जोशी के शब्दों में - “समकालीनता को अर्जित करना होता है, अपने समय के साथ मुठभेड करते हुए, उसमें हस्तक्षेप करते हुए हर रचनाकार को अपनी समकालीनता स्वयं अर्जित करनी होती है।”¹ समकालीनता के बारे में विश्वंभरनाथ उपाध्याय का मानना है कि - “समकालीन एक काल में साथ-साथ जीना नहीं है। समकालीनता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला करना है। समस्याओं और चुनौतियों में भी केन्द्रीय महत्व रखनेवाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।”²

1. राजेश जोशी - समकालीनता और साहित्य, पृ. 30

2. विश्वंभरनाथ उपाध्याय - समकालीन सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 16

समकालीन साहित्य में बहुसंस्कृतियों का सान्निध्य एवं पल्लवन दिखाई पड़ता है। इसमें हाशिएकृत समाज का यथार्थ चित्रण है, जो सभी प्रकार के मानवाधिकारों से वंचित होकर हाशिए पर छोड़ा गया है। स्त्री, दलित, आदिवासी और अन्य अल्पसंख्यक वर्ग इसमें शामिल है। वे सदियों से शोषण का शिकार है, तिरस्कृत है। इसलिए समकालीन साहित्य का मुख्य प्रवृत्ति ही यह है कि इस हाशिएकृत समाज को केन्द्र में लाना। उन लोगों को आत्मपहचान बनाये रखने के लिए प्रतिरोध करना ही समकालीन रचनाकार अपना दायित्व समझते हैं। इसके लिए हाशिएकृत समाज स्वयं समाज के आगे आते हैं और अपनी समस्याओं को, प्रतिरोध को अपनी भाषा में ही अभिव्यक्त करके समकालीन साहित्य को एक नयी दृष्टि प्रदान करते हैं।

वर्तमान समाज, वैश्वीकरण, आर्थिक उदारीकरण, बाज़ारवाद, उपभोगवादी संस्कृति के गिरफ्त में है। इससे संस्कृति का रूप भी बदला। अर्थ केन्द्रित संस्कृति ने मानव जीवन को कलुषित बनाया। उपभोक्तावादी नीतियों के तहत सामाजिक मान्यताएँ चरमरा रही हैं। सामाजिक मूल्य अब खोखले स्थापित किए गए हैं। मानव मूल्य आज खतरे में है। घृणा, हिंसा, आतंक तथा असुरक्षा बढ़ चली है। इस नव औपनिवेशिक स्थितियों का प्रभाव मानव जीवन पर ही नहीं प्रकृति पर भी दिखाई पड़ती है। अरुण कमल के विचार में - “आज समकालीनता का अर्थ है पूँजी, बाज़ार, स्वार्थ और अमानवीकरण के विरुद्ध जाग्रत होना। आज मनुष्य बेहद अकेला होता रहा है। पर यह ऐसा अकेलापन है जिसमें एकांत नहीं। उसकी निजता,

स्वायत्तता और स्वाधीनता का उल्लंघन हो रहा है। सामूहिकता में ही वास्तविकि एकांत है। आज कविता उसी सामूहिकता और उसी एकांत की खोज है।”¹ भौतिकवादी तथा व्यावसायिक दृष्टिकोण अपनाकर विकास मंत्र रचने पर, वह मानव राशि के कल्याण के लिए श्रेयस्कर नहीं, खतरनाक अवश्य है जिसका परिणाम है पारिस्थितिक असंतुलन। समकालीन समय में मनुष्य-मनुष्य के बीच का भेदभाव बढ़ता जा रहा है। जिससे समाज में आतंकवाद, सांप्रदायिक समस्याएँ तीव्र होती हैं।

समकालीन साहित्य स्थानीयता का भी साहित्य है। समकालीन कविताओं में स्थानीय रंग ही मुख्य कारण है जो पूर्ववर्ती युग के कवियों से समकालीन कवि को अलग करते हैं। लोकजीवन का अंकन, गाँव के प्रति प्रेम, महानगरीय जीवन के प्रति विरोध लोकभाषा का प्रयोग आदि समकालीन कविता को अलग पहचान प्रदान करता है।

विषय के प्रति नयापन ज़रूरी इसकी भाषा पर भी प्रतिबिंबित करता है। समकालीन साहित्य की भाषा प्रतिरोध की है। इसकी शिल्पविधान भी पूर्ववर्ती काव्यान्दोलनों से विशिष्ट है। इसप्रकार समकालीन साहित्य विषय और शिल्प के क्षेत्र में एक नया सौन्दर्य बोध की सृष्टि करता है।

निष्कर्ष

काव्य में निहित सौन्दर्य बोध कविता की महत्ता को बढ़ाती है। साहित्य में सौन्दर्यबोध संबंधी विचारों की शुरुआत काव्यशास्त्र से माना

1. अरुण कमल - कविता और समय, पृ. 234

जाता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रस, अलंकार, रीति, औचित्य, वक्रोक्ति और ध्वनि को काव्य सौन्दर्य के प्रतिमानों के रूप में प्रतिष्ठित करके विभिन्न संप्रदायों को विकसित किया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी सौन्दर्य बोध की एक सुदीर्घ परंपरा मिलती हैं। प्रत्येक युग में रचनाकार काव्य में सौन्दर्य सृष्टि के लिए निश्चित मानदण्डों का निर्धारण करते थे, उसी के अनुरूप काव्य सृजन करते थे। कविता में निहित सौन्दर्य तत्व मानव मन को गहरी रूप से प्रभावित करते हैं। समकालीन समय में कवि, सौन्दर्य संबन्धी सभी पूर्वनिर्धारित मान्यताओं को नकारकर काव्य सृजन करते हैं। कथ्य और भाषायिक शिल्प में यह नवीन सौन्दर्यबोध विद्यमान है।



दूसरा अध्याय

समकालीन हिन्दी कविता में
अस्मितामूलक सौन्दर्य

समकालीन हिन्दी कविता में अस्मितामूलक सौन्दर्य

अस्मिता बोध

अस्मिता में स्वत्व बोध की प्रधानता होती है। वर्तमान समय में व्यक्ति और समुदाय अपनी विशेष अस्मिता को बनाए रखना चाहते हैं। परिवेश से अलगाव का बोध व्यक्ति में अस्मिता का प्रश्न उठाता है। अतः व्यक्ति समाज में रहते हुए अपनी इच्छानुसार सुरक्षित एवं सम्मानित जीवन जीना चाहता है।

वर्तमान दौर में व्यक्ति को अपनी अस्मिता प्राप्ति के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। आज के समय में अस्मिता का प्रश्न अधिक उलझा हुआ है और इसको प्राप्त करना कठिन हो गया है। अस्मिता प्राप्ति के संघर्ष की शुरुआत अपने वंचित, पीड़ित और प्रताडित होने के एहसास से शुरू हो जाती है जिससे अपनी पहचान को प्राप्त करना सबसे बड़ा उद्देश्य होता है। अधिकारों से वंचित यह समाज सदियों से मुख्यधारा समाज द्वारा किए गए अन्याय एवं अत्याचारों के खिलाफ लड़ते हैं। अस्मिता के प्रति रास्ते में कभी कभी व्यक्ति विद्रोही भी बन जाता है। विद्रोह से अस्मिता को प्राप्त करने की प्रवृत्ति आज तीव्र हो गयी, क्योंकि प्रत्येक मानव अपने जीवन में विकास चाहते हैं।

इस तरह अस्मिता विमर्श उन वंचितों को उनकी पहचान दिलवाने का वह आंदोलन है जो इस उपेक्षित वर्ग को समाज की मुख्यधारा के साथ

जुड़ाने में काबिल बन सकें। समकालीन समय में स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक जनता जैसे अनेक उपेक्षित वर्ग जो है वे अपनी अस्मिता के लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

स्त्री अस्मिता

स्त्री स्वत्व की पहचान से स्त्री अस्मिता जन्म लेती है। इसमें स्त्री की वास्तविक पहचान को प्राप्त करने की प्रवृत्ति सीक्य है जिसके लिए स्त्री सदियों संघर्षरत दिखाई दे रही है। स्त्री भी पुरुष के समान एक स्वतंत्र व्यक्ति है। लेकिन पुरुषसत्तात्मक समाज, स्त्री को शारीरिक एवं मानसिक तौर पर शोषण कर रहे हैं। जब स्त्री को लगा कि उसका अस्तित्व, स्थान, अधिकार और आज़ादी संकट में है, उसे अपने विचारों को अभिव्यक्ति देनी पड़ी। रमणीका गुप्ता का कथन है:- “आखिर स्त्री अस्मिता है क्या? दरअसल यह पुरुष के समान स्त्री का समान अधिकार स्त्री के प्रति विवेकमूलक दृष्टिकोण तथा स्त्री द्वारा पुरुष के वर्चस्व का प्रतिरोध है। औरत का केवल स्वतंत्र होकर निर्णय ले सकना या आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाना ही उसकी अस्मिता नहीं है। सही मायने में स्त्री अस्मिता का अर्थ होगा स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में बदलाव जिसमें स्त्री के खुद का दृष्टिकोण भी शामिल हो।”¹ वर्तमान समय में स्त्री ने पहचान लिया कि, कहीं भी उनकी कोई हैसियत नहीं उसकी अस्मिता को कोई मानता नहीं है। यह समझ स्त्री स्वत्व बोध की पहचान है। इस स्वत्व बोध ही नारी विमर्श में

1. रमणीका गुप्ता - स्त्री विमर्श: कलम और कुदाल के बहाने, पृ. 55

बुलन्द है। स्त्री विमर्श स्त्री की अस्मिता पर ज़ोर देते हुए परंपरा और रूढियों के विरुद्ध सतर्कता से संघर्ष कर रहा है।

मानव जीवन में स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक है। नर के बिना नारी और नारी के बिना नर अपूर्ण है। सभ्यता और संस्कृति नर-नारी संबंध पर आधारित है। लेकिन, पुरुष सत्तात्मक भारतीय समाज में नारी की स्थिति विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न प्रकार की है। वैदिक काल में स्त्री को पुरुष के समकक्ष और पूजनीय स्थान प्राप्त हुई थी। भक्तिकाल में नारी को तिरस्कृत और उपेक्षा की भाव से देख लिया तो रीतिकाल में आकर श्रृंगारिक रूप में बदल गया। लेकिन आधुनिक भावबोध के विकास के साथ स्थितियाँ बदलने लगी। आधुनिक काल में अंग्रेज़ों के आगमन से नई शिक्षा प्रणाली का उदय होने लगा। कई सुधारवादी संस्थाएँ स्त्री शिक्षा पर ज़ोर देने लगी। यही सामाजिक परिवर्तन का कारण बन गया। स्त्री सशक्तीकरण के लिए स्त्री संगठनों की स्थापना एवं कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ। भारत में स्वतंत्रता आंदोलन के कारण स्त्री जागरण और भी तेज़ होने लगा। उस समय कई महिलाएँ स्वाधीनता संग्राम में भी भाग ली थी। इस तरह स्त्री धीरे-धीरे घर की चार दीवारों को छोड़कर सारे बन्धनों को तोड़कर आगे आने लगी।

भारतेंदु युग के कवियों ने स्त्री पर किये जानेवाले अत्याचारों के विरुद्ध कविताएँ लिखी। द्विवेदी युग में गुप्तजी ने स्त्री को प्रमुखता देकर

ऊर्मिला एवं यशोधरा जैसी उपेक्षितों पर कविताएँ लिखी जो काव्य जगत में नई प्रेरणा देने लगी। छायावादी काल में स्त्री संघर्ष एवं स्त्री मुक्ति ज़्यादा मुखरित होने लगा। माँ, बेटी, प्रेयसी जैसी स्त्री के विभिन्न रूपों पर भी इस काल में कविताएँ रची गयी थी। प्रगतिवादी कवियों ने स्त्री संघर्ष को अपनी कविता का विषय बनाया। नयी कविता में स्त्री चर्चा तो हुई किन्तु उसकी अस्मिता को लेकर बहुत कम। इसप्रकार हिन्दी कविता में स्त्री की उपस्थिति बहुत प्राचीन काल से है। मगर इनमें स्त्री अस्मिता का यह भाव उपेक्षित ही रहा। उसके प्रति सहानुभूति, समता, दया, आर्द्रता तो है लेकिन उसकी वजूद को लेकर कोई परेशानी नहीं। स्त्री अस्मिता की चिन्ता अस्मियोत्तर दशक की कविताओं में देखने को मिलती है। समकालीन कविता स्त्री पक्ष पर ज़ोर देते हैं। कवियों ने स्त्री जीवन की दुर्दशा का चित्रण खुलकर प्रकट करने लगी। ये कविताएँ समाज में स्त्री के ऊपर जितना शोषण हो रहा है उन सभी से संघर्ष करने की प्रेरणा दे रही है। ये कविताएँ पुरुषवादी समाज में स्त्री को अपनी अस्मिता किसप्रकार बचाकर रखनी है इसका मार्गदर्शन कर रही हैं।

नारी जीवन के त्रासदपूर्ण स्थितियों में उसको शक्ति दिलाने के लिए, नारी को शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए उसमें चेतना जगाने के लिए स्त्री साहित्य का जन्म हुआ है। स्त्री साहित्य का मुख्य लक्ष्य यह है कि स्त्री और पुरुष को समान रूप से देखकर, अपने अधिकारों के प्रति स्त्री को सचेत करना। साहित्य के द्वारा स्त्री में अस्मिता बोध जगाने में समकालीन रचनाकार बहुत ही सफल साबित हो गये हैं। पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्री, हीनता

बोधा महसूस करती है। जब तक यह व्यवस्था कायम रहेगी तब तक स्त्री की मुक्ति पूर्ण रूप से संभव नहीं होगी। स्त्री के लिए पुरुषसत्तात्मक समाज द्वारा स्थापित आदर्श, नैतिकता, परंपरा धर्म आदि की चौखट में से बाहर आना साहस की बात है। फिर भी वह पूरी ताकत के साथ सारे बन्धनों को तोड़ने की कोशिश करती है। यह इसलिए हुआ कि स्त्री अब पहचान लेती है कि पितृसत्तात्मक समाज में गुलाम की तरह जीना उसके व्यक्तित्व विकास के लिए सबसे बड़ी बाधा है। इस व्यवस्था में स्त्री दोयम दर्जे की है, इसलिए उसे वह तोड़ना चाहती है और एक नयी सामाजिक संरचना की स्थापना भी चाहती है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में स्त्री मुक्ति के बारे में महादेवी वर्मा का कथन काफी चर्चित है। वे पुरुष के स्त्री का शत्रु नहीं समझते हैं। पुरुष से जय प्राप्त करना भारतीय स्त्री का लक्ष्य भी नहीं। उनका लक्ष्य केवल अस्तित्व की स्थापना है। महादेवी जी का कथन है:- “हमें न किसी पर जय चाहिए, न किसी से पराचय; न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व, केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परंतु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी। हमारी जागृत और साधन-संपन्न बहिनें इस दिशा में विशेष महत्वपूर्ण कार्य कर सकेंगी, इसमें संदेह नहीं।”¹ नारी का यह स्वत्व बोध ही नारीवादी आन्दोलन की चालक शक्तियाँ हैं। समकालीन नारीवादी लेखिका

1. महादेवी वर्मा - श्रंखला की कड़ियाँ, पृ. 23-24

अनामिका के विचार में :- “स्त्री आंदोलन पितृसत्तात्मक समाज में पले रहे स्त्री संबन्धी पूर्वाग्रहों से पुरुष की क्रमिक मुक्ति संभव नहीं मानता। दोषी पुरुष नहीं, वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर है, उनके भोग का साधन मात्र।”¹ स्त्री विमर्श, इस दृष्टिकोण का ही परिणाम है। इसमें स्त्री की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के प्रति जागरूकता विद्यमान है। नारी अपना स्वतंत्र विचार प्रकट करके जीवन और परिवेश के हर क्षेत्र में मुक्ति की माँग करती है। स्त्री अपनी अनुभूतियों को वाणी देना चाहती है। कात्यायनी का कहना है - “स्वयं चेती हुई स्त्री के स्वाधिकार स्त्री विमर्श के सरोकार हैं। विश्व के अधिकांश भागों में स्थापित पूँजीवादी व्यवस्था, पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने सामाजिक ढाँचा इसप्रकार निर्मित किया कि स्त्री व्यक्ति से वस्तु में बदल गयी।”² स्त्री लेखन, स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना के लिए कटिबद्ध है। यह स्त्री देह की सीमा से मुक्त होकर सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक स्तर पर स्वतंत्रता एवं समानता की वकालत करती है:- “पितृक सत्ता ने ही दुनिया की आधी आबादी को अपना उपनिवेश बनाया है, तथा उन्हें आत्महीन, स्वत्वहीन, वाणीहीन भी किया है। स्त्री विमर्श ने सदियों से चली आ रही स्वत्वहीनता, खामोशी को तोड़ा है तथा अपनी चुप्पी को गहरे मानवीय अर्थ दिये हैं। हाशियों की दुनिया को तोड़ा है। यह स्त्री विमर्श की भूमिका है।”³

1. अनामिका - कविता में औरत, पृ. 9

2. कात्यायनी - दुर्गा द्वार पर दस्तक, पृ. 67

3. राकेश कुमार - नारीवादी विमर्श, पृ. 9

सामाजिक परिवेश में स्त्री

स्त्री और पुरुष मिलकर समाज का निर्माण करता है। ये दोनों समाज के ही अंग हैं। प्राचीन काल में स्त्री और पुरुष को सुविधापूर्वक समान रूप से ज़िन्दगी जीने का अधिकार था। लेकिन धीरे धीरे सामाजिक व्यवस्था में पुरुषों का स्थान स्त्री से ज़्यादा सम्मानपूर्ण बन गया। परिणाम यह हुआ कि स्त्री और पुरुष के बीच का अन्तर बढ़ गया। समाज पुरुषप्रधान बन गये। यह एक दूसरे को दूर करने का कारण बन गया।

इस पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्री के लिए अपनी कोई जगह नहीं। परिवार में हो समाज में हो पुरुष हमेशा स्त्री को अपने अधीन में रखना पसंद करते हैं। अनामिका जी की 'बेजगह' नामक कविता में स्त्री और पुरुष के बीच के इस भेदभाव को चित्रित करती है। समाज में स्त्री-पुरुष के बीच की भिन्नता घर की रसोई से शुरू होती है। रसोई में, पाठशाला में, कॉलेज में, नौकरी में सब कहीं स्त्री को पिछवाड़े का स्थान है और पुरुष को प्रथम। कविता में संस्कृत के टीचर अन्वय का विवेचन करते हुए कहती है औरत, नाखुन और केश की तरह है। क्योंकि अपनी जगह से गिरकर वह कहीं की नहीं रह जाती है। उसी प्रकार डर के मारे हमारी लड़कियाँ भी अपनी जगह पर जम जाती है। क्योंकि आरंभिक पाठ से ही लड़की और लड़के के भेदभाव को ही अंकित किया गया है। जैसे राम पाठशाला जाता है तो राधा को खाना पकाना है। राम का बिस्तर लगाना, झाड़ू लगाना इस प्रकार घर का

सभी काम सीता को करनी है। नया घर जो है उसी में राम का अपना एक कमरा है सीता को नहीं:-

“लडकियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती है
उसका कोई घर नहीं होता
जिनका कोई घर नहीं होता है
उनकी होती है भला कौन सी जगह।”¹

यह लिंगभेदभाव, समानता के रास्ते पर हमेशा बाधा डाल रहा है। जिसकी वजह से स्त्री को समाजिक हैसियत प्राप्त नहीं हो रही है। पुरुष स्त्री को यही पाठ सिखाता है कि, घर संभालना ही स्त्री का दायित्व है। पुरुष की नज़र से पारिवारिक ज़िम्मेदारियों से बंधी औरत ही आदर्श स्त्री है। अनामिका जी की ‘स्त्रियाँ’ नामक कविता में स्त्री जीवन के दुःख को अभिव्यक्त करती है। पुरुषसत्तात्मक समाज स्त्री के दुःख को गहराई से नहीं समझते। कवयित्री प्रस्तुत कविता में यही कहती है कि मानवीय गरिमा के साथ स्त्री के दुःख को भी समझने की कोशिश करो:-

“भोगा गया हमको
बहुत दूर के रिश्तेदारों के
दुःख की तरह
एक दिन हमने कहा
हम भी इन्सान हैं-
हमें फायदे से पढो एक-एक अक्षर
जैसे पढा होगा बी. ए. के बाद
नौकरी का पहला विज्ञापन।”²

-
1. अनामिका - कवि ने कहा, पृ. 11
 2. वही, पृ. 9

समाज हमेशा नारी को दोषी मानते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक स्त्री को दोषी नाम सुनना ही पडती है। स्त्री कुछ भी कहें या कुछ भी करें वह सब दोष है। स्त्री के लिए समाज अलग से अनेक नियम बनाते हैं। उस सामाजिक व्यवस्था में स्त्री स्वयं को बंधी समझती है। वे इन सबसे मुक्ति चाहती है, फिर भी उन्हें अच्छी तरह मालूम है यह मुक्ति उतना आसान बात नहीं है:-

“जब मैं पैदा हुई तो मुझमें दोष था
 क्योंकि मैं लडकी थी
 जब थोड़ी बडी हुई तब भी दोषी रही
 क्योंकि मेरी बुद्धि लडकों से ज़्यादा थी....
 और बडी होने पर मेरे दोष अलग थे
 क्योंकि मैंने गलत का विरोध किया
 बूढी होने पर भी मैं दोषी रही
 क्योंकि मेरी इच्छाएँ खत्म नहीं हुई थीं
 मरने पर भी मैं दोषी रही
 क्योंकि इन सब के कारण असंभव थी मेरी मुक्ति।”¹

स्वाधीन भारत में स्त्री को कहाँ तक आज़ादी मिली है? समाज में स्त्री सुरक्षित नहीं है। सब कहीं वे असुरक्षा महसूस करती है। सडक, गलियाँ, बस, रेलगाडी, तथा अन्य सार्वजनिक जगहों व यातायात की व्यवस्थाएँ स्त्री के लिए रक्षात्मक नहीं लगती। अखबारों में दिन-ब-दिन आती बलात्कार की समाचार से स्त्री इतनी भयभीत होती है कि उनकी मानसिक स्थिति भी

1. अनीता वर्मा - रोशनी के रास्ते पर, पृ. 95

बिगडती है:-

“माँ बहनों की इज्जत लूटी जिन लोगों ने
उनकी जय हो
खून बहाया मासूमों का जिन लोगों ने
उनकी जय हो
दांत गडने को जो व्याकुल उन कुत्तों की
जय हो जय हो।”¹

वर्तमान समय में स्त्रियों हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धे मिलकर खड़ी होती है। स्त्री छोटी-छोटी और अलग भूमिका में परंपरागत मूल्यों पर चोट कर रही है। कात्यायनी की ‘हाकि खेलती लडकियाँ’ कविता में स्त्री घरेलू परिवेश से बाहर आकर खुले मैदान में हाकी खेलती है। उन्हें इस बात की चिंता नहीं सताती है कि उनके इस खेल से अम्मा, बाबू क्या सोचेंगे? या ससुरालवाले क्या सोचेंगे? वह दूसरों की इच्छा के अनुसार जीना पसंद नहीं करती है:-

“उनकी पुष्ट टांगे चमक रही है
नृत्य की लयबद्ध गति के साथ
और लडकियाँ है कि
निर्झन्द
निश्चित है
बिना यह सोचे कि

1. अरुण कमल - पुतली में संसार, पृ. 64

मुंह दिखायी की रसम करते समय
सास क्या सोचेगी।”¹

समाज ने स्त्री सौन्दर्य के कुछ अलग प्रतिमानों का निर्माण किया है। स्त्री सौन्दर्य के परंपरागत प्रतिमान बदल रहे हैं। लज्जा, संकोच आदि भावनाएँ ही स्त्री छवि का निर्माण करता था। लेकिन आज स्त्री अपनी मज़बूत और निर्भीक छवि गढ़ रही है। सविता सिंह की पंक्तियाँ है:-

“मुझे वह स्त्री पसंद है जो कहती है अपनी बात साफ-साफ
बेझिझक जितना कहना है बस उतना
निर्भीक जो करती है अपने काम
नहीं डरती सोचती हुई आत्म निर्भरता पर अपने
हटाती नहीं वे आखिरी पर्दे
आत्मा जिन्हें बचाए रखना चाहती है देह के लिए।”²

पारिवारिक संदर्भ में

समकालीन कविता में स्त्री, माँ, बहन, पत्नी, प्रेमिका, पुत्री आदि सभी की भूमिका निभाती है। यहाँ पर वह पुरुष के बिना संसार रचना नहीं चाहती, बल्कि पुरुष के संसार में रचती बसती है। लिंग भेदभाव की मानसिकता परिवार से शुरू होती है। बेटा और बेटी के बीच अलगाव की दृष्टि आज भी हमारे परिवारों में है। प्रमोद वर्मा की कविता 'मेरी बेटी के सपनों का घर' में बेटी द्वारा निर्मित घर में सब को स्थान है। कविता के

1. कात्यायनी - सात भाइयों के बीच चंपा, पृ. 17
2. कमला प्रसाद/राजेन्द्र शर्मा - स्त्री मुक्ति का सपना, पृ. 146

माध्यम से कवि इस आशय प्रकट करने की कोशिश करते हैं कि स्त्री, अपने परिवार में अलगाव महसूस करती है। फिर भी उनके द्वारा निर्मित घर की तसवीर में पुरुष भी शामिल है। यह है स्त्री की वास्तविक मानसिकता यह है:-

“बहुत बड़ा घर रचा है मेरी गुड़िया ने
 आसमान जितना बड़ा
 वह जानती है लोगों के पास
 और सभी कुछ होता है बस
 एक घर नहीं होता
 मेरी बेटों के घर में
 सबके लिए जगह होगी।”¹

“विवाह’ स्त्री जीवन की सबसे महत्वपूर्ण बात मानी जाती है। इसी को लेकर स्त्री मन में आशाएँ और आशंकाएँ भी होती हैं। लेकिन स्त्री अपने जीवनसाथी को चुनने के अधिकार से वंचित है। ‘उतनी दूर मत ब्याहना बाबा’ नामक कविता में लड़की, अपने पिता से यह बात खुलकर बताती है कि वह किस प्रकार के आदमी से शादी करना चाहती है:-

“उस देश में ब्याहना
 जहाँ ईश्वर कम, आदमी ज़्यादा रहते हो
 जिससे ख़ाया नहीं जाये
 मेरे भूखे रहने पर
 उसी से ब्याहना मुझे।”²

-
1. www.kavitakosh.com
 2. निर्मला पुतुल -अपने घर की तलाश में, पृ. 35

हमारी परंपरा की मान्यता यह है कि औरत का काम घर संभालना है। उनके बाहर जाने और कामकाजी बनने के बाद में भी स्थितियों में कोई बदलाव नहीं। घर का मालिक हमेशा पुरुष रहता है तो गृहस्थी में 'उनकी' नहीं 'उसकी' उपादेयता होती है:-

“मलेरिया में बहन काँपती है, ठिठुरती है
दुबक दुबक जाती है रज़ई में
त्यौहार के आने के महीने भर पहले ही,
संवारना शुरू करती है घर को
जाने क्या क्या करती है
घर को एकदम उजाला करने की फिराक में
हर काम को करती है दो-दो बार।”¹

पत्नी को पारिवारिकता का पूरा दायित्व सौंपकर बाहर काम करनेवाला पुराने कवि की जगह समकालीन कवि, उसके साथ हाथ बाँटने को सोचते हैं:-

“मेरी पत्नी कितना काम करती है
और छींकते रहने के बावजूद
कुछ न कुछ करती ही जाती है।”²

आर्थिक संदर्भ में

आज़ादी के बाद स्त्रियों में शिक्षा प्राप्ति के साथ साथ आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न हुई है। अब वे पहले के समान पूर्णरूप से पुरुष पर निर्भर

-
1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ. 15
 2. चन्द्रकांत देवतले - पत्थर की बेंच, पृ. 47

नहीं हैं। आज सभी क्षेत्रों में स्वयं जीविका उपार्जित करनेवाली स्त्रियाँ की संख्या बढ़ती जा रही है। आर्थिक क्षेत्र की आत्म निर्भरता ने स्त्रियों के विचारों को भी पर्याप्त स्वतंत्र कर दिया है। शहरों में ही नहीं अब गाँवों में भी वे आर्थिक स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न कर रही हैं। सविता सिंह 'मैं किसकी औरत हूँ' नामक कविता में एक स्वावलंबी नारी की अभिव्यक्ति है:-

“मैं किसी की औरत नहीं हूँ
मैं अपनी औरत हूँ
अपना खाती हूँ
जब जी चाहता है तब खाती हूँ
मैं किसी की मार नहीं सहती
और मेरा परमेश्वर कोई नहीं।”¹

स्त्री जब कामकाजी बनी, उसका दायित्व बढ़ गया। बच्चों की देखभाल के साथ दूसरे घरेलू दायित्व भी उसे ही निभाना पड़ता है। अतः शिक्षित कामकाजी नारी दोहरे या तिहरे दायित्वों से जूझती दिखाई पड़ती है:-

उसने अपने आप बाँटकर, दो कर डाला
दफ्तर में वह नीति नियामक, कुशल प्रशासक
घर में उसकी वह भूमिका, सदियों से जो रहती आई
समझ गई वह असली विजय यहाँ पाना है
बाकी दुनिया बेमानी है।”²

कामकाजी औरत के प्रति पुरुषसत्तात्मक समाज के चिंतन में भारी

-
1. सविता सिंह - अपना जैसा जीवन, पृ. 40-41
 2. ममता कालिय - खाँटी घरेलू औरत, वर्तमान साहित्य, जनवरी 2002, पृ. 55

बदलाव तो नहीं आया। नीलेश रघुवंशी की कविता 'तोड मरोडकर' में बेटी द्वारा कमाये धन को पराया धन माननेवाले पिता का चित्रण है:-

“हंसेगी दुनिया हम पर, बेटी के पैसों पर कर रहे हो
 ऐश कमाती हूँ
 अपना खुद का मतलब नहीं उन्हें इससे
 कुछ लेना तो दूर, माँ खाती-पीती
 भी नहीं अब मेरा
 बेटी का खाँगे तो जाँगे नरक में
 इस दुनिया को तोड मरोडकर बनानी चाहिए एक नई दुनिया
 बेटी जिसमें
 इतनी पराई न हो”¹

गरीबी मिटाने के लिए 'वेश्यावृत्ति' को स्वीकार करनेवाली स्त्रियों भी समकालीन कविता में शामिल है। प्रभा खेतान कहती है - “वेश्यावृत्ति चूँकि सबसे प्राचीन पेशा है, यह गरीबी का जुड़वों पक्ष है। गरीब स्त्री जिसके पास केवल देह है, उसके सामने रोज़गार का कोई विशेष विकल्प नहीं बल्कि उसे यदि अपना और अपने बच्चों का पेट भरना है तो सबसे आसान तरीका है कि अपनी शरीर को बेचें।”² मंगलेश डबराल की कविता 'कालर्गल' में कवि ने कालर्गल की व्यथा को वर्णित किया है:-

“और वे विज्ञापनी मांडले भूतपूर्व देहें जो
 अब मुजरिम बनी हुई है
 जिन्हें काम मिलना बंद हो गया

-
1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ. 59
 2. प्रभा खेतान - बाज़ार के बीच, बाज़ार के खिलाप, पृ. 144

वे अपनी बोरोज़गारी की वजहें भी अपने
भीतर छिपाये रहती हैं
हमारी अश्लीलता उनके फोटे में ही पा लेती है अपनी
खुराक।”¹

बाज़ारीकरण के युग में स्त्री केवल वस्तु के रूप तब्दील हो गयी है।
उसके समय को खरीदना, उसे घरीद लेना है और बिक जाने के बाद सब
कुछ ग्राहक का होता ही है।

“अमेरिका में रोना मना है
उदासक होना मना है
एक बहुत बडी आँख सबको देख रही है
पीछे मुडकर जीवन को देखना मना है
वह किस्से किसे नहीं मालूम
कि आलीशान दूकान में सामान बेचती
एक दुबली-सी लडकी
जो कुछ सोचती हुई-सी बैठी थी
एक दिन एक ग्राहक के सामने मुस्कराना भूल गई
शाम को उसे नौकरी से अलग कर दिया गया।”²

प्रस्तुत कविता में कवि कहते हैं कि लडकी हमेशा मुस्कराती है,
यह उल्लास के कारण नहीं बल्कि यही उसका काम है। ऐसा काम जो सोचने
तक की छूट नहीं देता। काम की वह तभी तक है, जब तक यंत्र की तरह
कम करती रहती है।

1. मंगलेश डबराल - नये युग में शत्रु, पृ. 78

2. मंगलेश डबराल - हम जो देख रहे हैं, पृ. 75-76

धार्मिक संदर्भ में

भारतीय परंपरा में धर्म के नाम पर नारी अपने अधिकारों से वंचित रही है। आज धर्म एवं देवताओं के नाम पर ही स्त्री का शोषण हो रहा है। इतना ही नहीं हत्या, बलात्कार भी इसी जगह पर किया जा रहा है। लीलाधर जगूडी की कविता मंदिर लेन में धर्म के नाम पर शोषण करनेवाले टेकेदारों का चित्रण है:-

“मर्द बताने हैं ज़रूर कोई छिनाल ही होगी
औरतें बताती है कि पहले मुँह में कपडा ठुँसा गया होगा
फिर मुँह काला किया गया होगा।
जी हाँ, यही है मंदिर लेन जो कब्रिस्तान को जाती है
आपको कहाँ जाना है?”¹

अनामिका जी ने अपनी कविता में मासिक धर्म की वेला में देवालय के बाहर खड़ी रहने के लिए विवश औरत का चित्रण किया है:-

“ईसा मसीह! औरत नहीं थे
वरना मासिक धर्म। ग्यारह बरस की उमर से
उनको ठिकाए हो रखता
देवालय के बाहर।”²

इस्लाम धर्म में औरत को बिना बुरके से बाहर जाने की अनुमति नहीं है। पुरुष की तरह स्वतंत्र होकर चलने से स्त्री को मना करती है:-

-
1. लीलाधर जगूडी - भय भी शक्ति देता है, पृ. 32
 2. अनामिका - कवि ने कहा, पृ. 18

‘बिना बुरके के मत निकलो घर से बाहर
 शहर से बीचों बीच चौराहे पर लगे पोस्टर
 लडकियों की आँखों से दूर ही रहे
 लाल सेब और चेरी सी सुर्घ लडकियों
 हुई दहशतगर्द जेहादियों की गोलियों का शिकार
 सरेआम की गई हवाले मौन के
 खुली हवा में साँस लेना चाहती थी लड़कियाँ।’¹

समकालीन संदर्भ में स्त्रियाँ धर्म के नाम पर हो रहे शोषण के विरुद्ध बुलन्द आवाज़ प्रकट कर रही है। समाज, परिवार, धर्म जैसे सभी क्षेत्रों में स्त्री को समानता का अधिकार मिलना बिल्कुल ज़रूरी है।

इसप्रकार समकालीन कविताओं में स्त्री अस्मिता का स्वर गूँज उठती है। वह देह की सीमा से परे अपनी अस्तित्व को बनाये रखने की कोशिश कर रही है। समकालीन कविता के क्षेत्र में स्त्री केन्द्रित कविताएं एक नई सौन्दर्य दृष्टि का निर्माण करती है।

दलित अस्मिता

साहित्यकार हमेशा मानवतावाद के पक्षधर हैं। जब मानवता के नष्ट होने की सूचना मिलती है तब साहित्य उसकी स्थापना का कार्य करता है। स्वाधीनता पूर्व एवं स्वाधीनता के बाद भी दलित, मानव विरोधी व्यवस्था के शिकार हैं। वैदिक काल में भारतीय समाज पेशे के आधार पर विभाजित

1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ. 40

थे। ईश्वर मंदिरों में पूजा करने वाले ब्राह्मण लोगों को समाज में उच्चस्थान था। इसके बाद क्षत्रिय आते हैं, जो देश की रक्षा करते थे। वैश्य लोग व्यापार से जुड़े हुए थे, उनको समाज में तृतीय स्थान प्राप्त थे। सबसे निचले स्तर के वर्ग थे 'शूद्र' जिसे दलित भी कहा जाता है। इनसान होकर भी इनसान के सारे अधिकारों से वंचित थे दलित समाज। जाति या वर्णगत भेदभाव के कारण ये अछूत माने जाते थे। उच्च वर्ग के लोग हमेशा इनको यही पाठ सिखाते हैं कि समाज की सेवा करना, कठोर श्रम करना ही दलित का कर्तव्य है शिक्षा एवं अन्य सामाजिक, राजनैतिक अधिकारों से वंचित रखते हुए सदियों से हमारा समाज उनपर अन्याय करते हैं।

बौद्धों के समय से ही दलित जीवन में परिष्कार लाने का प्रयास शुरु हुआ था। मध्यकाल में कबीरदास, रैदास जैसे संतों ने अंधविश्वास, छुआछूत, धार्मिक आडंबर जैसी कुरीतियों को मिटाने का खूब प्रयत्न किया था। लेकिन आध्यात्मिक पक्ष पर बल देने के कारण इनसे दलितों के सामाजिक जीवन में काफी परिवर्तन नहीं आया। इसके बाद आधुनिक काल तक के समय में दलितों की समस्याओं पर काफी चर्चा नहीं हुई थी। दलित जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति आधुनिककाल से प्रारंभ होता है। भारतेन्दु द्विवेदी युगों में श्रमिक वर्ग का चित्रण होने पर भी दलित चेतना उपेक्षित थी। इस विषय को तीक्ष्णता के साथ अंकित करनेवाला साहित्य है प्रगतिवादी या प्रगतिशील साहित्य। आधुनिक युग में शिक्षा के प्रचार प्रसार के साथ दलित आत्मसजग होने लगा। वे अपने ऊपर हो रहे अन्याय एवं अत्याचार को

समझने लगे, दलित, अपने जीवन की कठिनाइयों को समाज के सामने व्यक्त करना चाहा। क्योंकि दूसरों की रचनाओं में अनुभूति की कमी उन्हें महसूस हुई। इसके फलस्वरूप दलित स्वयं ही अपनी यातनाओं को जीवन यथार्थ को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। दलित साहित्य का आरंभ यहीं से शुरू होता है।

दलित साहित्य को मज़बूत कराने में दलित आन्दोलनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। डॉ. अंबेडकर, ज्योतिबा फुले जैसे व्यक्तियों के विचारों से दलित समाज को शक्ति मिल गयी। वे एकजुट होकर सामाजिक न्याय के लिए लड़ाई लड़ने लगी। स्वाधीन भारत में दलित उत्थान के लिए संविधान में आरक्षण देने के साथ जीवन के हर क्षेत्र में समानता लाने की कोशिश भी हुई। सुभाष चन्द्र के विचार में “हमें करना आवश्यक है वह यह है कि हमें सिर्फ राजनीतिक लोकतंत्र से ही संतुष्ट होकर नहीं रह जाना चाहिए। हमें अपने राजनीतिक लोकतंत्र को एक सामाजिक लोकतंत्र भी बनाना चाहिए।”¹ दलितों के विभिन्न मुद्दों को लेकर देश भर में विभिन्न दलित आन्दोलन का जन्म हुआ। इसप्रकार साहित्य और दलित आन्दोलन एक दूसरे का प्रेरक बनकर चला।

दलितों की मुक्ति ही दलित साहित्य की मुख्य समस्या है। दलित जीवन के सामाजिक यथार्थ, उनपर हो रहे शोषण के साथ दलितों का विद्रोह एवं उनका प्रतिरोध भी दलित साहित्य के मुख्य बिंदुएँ हैं। दलित साहित्य को लेकर मुख्य रूप से एक विवाद यह होता है कि दलितों द्वारा लिखित साहित्य

1. सं. सुभाष चन्द्र - अंबेडकर से दोस्ती समता और मुक्ति, पृ. 34

ही दलित साहित्य है। लेकिन दलित जीवन के संघर्षों की अभिव्यक्ति सबसे पहले गैर दलितों द्वारा लिखित साहित्य में ही हुआ था। इसलिए इसे पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता। फर्क सिर्फ इतना ही है कि एक में स्वानुभूति है तो दूसरे में सहानुभूति है। शरणकुमार लिंबाले का कथन है कि - “दलित साहित्य अर्थात् दलित लेखकों द्वारा दलित चेतना से दलितों के विषय में किया गया लेखन। इसका लक्ष्य है दलित समाज को गुलामी से अवगत करना और सवर्ण समाज के समक्ष अपनी व्यथा और वेदनाओं का बयान करना।”¹ दलित साहित्य एक रचनात्मक विरोध है जो अस्वीकृति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित होता है। इस विरोध का जन्म हजारों सालों की यातनाओं से उभरी वेदना के गर्भ से होता है। “यह ‘नकार’ अथवा ‘विद्रोह’ अपने ऊपर लादी गई अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध है वेदना और नकार के बाद की अवस्था ‘विद्रोह’ है। ‘मैं मनुष्य हूँ, मुझे मनुष्य के सभी हक मिलने चाहिए।’ इस चेतना से विद्रोह का जन्म हुआ है।”² सुशीला टाकभौरे के अनुसार “दलित साहित्य में केवल दया और करुणा मात्र का संवेदना नहीं है। बल्कि अन्याय, शोषण, विषमता और पुराणपंथी परंपराओं को तोड़ देने का बल है। इसमें जोश है, आक्रोश है और निडरता के साथ आगे बढ़ते रहने का हौसला है।”³ ओमप्रकाश वाल्मीकी ने दलित साहित्य के बारे में इसप्रकार कहा है कि “दलित साहित्य वह साहित्य है जो सामाजिक आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक क्षेत्रों में पिछड़े हुए उत्पीड़न अपमानित,

1. शरणकुमार लिंबाले - दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ. 29
2. वही - पृ. 39-40
3. सुशीला टाकभौरे - जनविकल्प, पृ. 3

शोषित जनों की पीडा को व्यक्त करता है। दलित साहित्य कठोर पर आधारित साहित्य है। दलित साहित्य में आक्रोश और विद्रोह की भावना प्रमुख है।”¹ दलित साहित्य के लक्ष्य पर विचार करते हुए दलित पक्ष की चिन्तक रमणिका गुप्ता जी लिखती है - “दलित साहित्य लक्ष्य सबको समान हक, समान शिक्षा, पेशा चुनने का समान अवसर और अधिकार तथा बोलने की आज़ादी, सत्ता में समान भागीदारी, निर्णायक भूमिका में समान अवसर एवं स्थान दिलाकर एक जातिविहीन समाज का निर्माण करना है।”² इसप्रकार दलित साहित्य में दलितों की पीड़ा, वेदना, शोषण, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के साथ मुक्ति की कामना भी है। इसलिए इसकी भाषा में क्रांति, विद्रोह एवं प्रतिरोध का स्वर ही बुलंद है।

हिन्दी दलित कविता

दलित साहित्य की चर्चा दरअसल हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा की ओर अग्रसर करती है। दलित साहित्य की इस तरफ में दलित कविता की बड़ी भूमिका है। साहित्य में दलित जीवन की अभिव्यक्ति सबसे पहले कविता के माध्यम से हुई। 1960 में मराठी भाषा में दलित साहित्य पर चर्चा हुई, इससे प्रेरित होकर 1980 के बाद हिन्दी साहित्य जगत् में भी दलित साहित्य का आगमन हुआ। भोजपुरी कवि हीराडोम द्वारा लिखित ‘अछूत की शिकायत’ नामक कविता ‘पहली दलिता कविता’ के रूप में मानी जाती है।

1. ओमप्रकाश वाल्मीकी - दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ. 13-14

2. रमणिका गुप्ता - दलित चेतना - साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, पृ. 65

इस कविता का प्रकाशन आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' पत्रिका में हुआ था।

1960 में सबसे पहले दलित साहित्य की चर्चा मराठी भाषा में हुई। हिन्दी में इसका विकास 1980 के बाद ही होता है। दलित जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक नयी धारा के रूप में पल्लवित हुई। कविता के अलावा आत्मकथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना जैसे साहित्य के सभी क्षेत्रों में दलित जीवन' मुख्य विषय बन गये। ओमप्रकाश वाल्मीकी, मोहनदास नैमिशराय, कंवल भारती, सुशीला टाकभौरे, सूरजपाल चौहान, रजनी तिलक, मुकेश मानस, मलखान सिंह, एन सिंह आदि हिन्दी दलित कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकी के 'बसा बहुत हो चुका' सदियों का संताप', 'अब और नहीं', जयप्रकाश कर्दम का 'गूंगा नहीं था मैं', सुशीला टाकभौरे का 'यह तुम भी जानो' मलखान सिंह का 'सुनो ब्राह्मण' जैसे काव्य संग्रह दलित कविता के क्षेत्र में विशेष महत्व रखते हैं। सारी की सारी दलित कविताओं में दलितों के ऊपर होनेवाले शोषण, उत्पीडन, पीडा, दुःख, अपमान आदि के चित्रण के साथ जातिवाद, ब्राह्मणवाद जैसे सामाजिक अभिशापों के प्रति अपना प्रतिरोध भी है।

जाति रूपी बन्धन

वर्ण व्यवस्था की स्थापना के साथ समाज में मानव-मानव के बीच ऊँच-नीच का भाव जन्म लिया। जातीय असमानताएँ मानवता के मुख्य शत्रु

हैं। भारत की जाति व्यवस्था बहुत अधिक जटिल है। प्रत्येक जाति के अन्दर अनेक उपजातियाँ भी होती हैं। जाति के नाम पर समाज में कुछ लोगों को मान-मर्यादा देना, कुछ लोगों को अछूत समझना और सारी सुख सुविधाओं से, अधिकारों से इन्हें वंचित रखना अन्याय है। स्वाधीनता प्राप्ति के इतने साल बाद भी जाति, धर्म, वर्ग, लिंग को लेकर लोगों की मानसिकता में ज़्यादा बदलाव नहीं आया है। समाचार पत्रों में आनेवाले दलित उत्पीड़न की खबर इसका स्पष्ट प्रमाण है।

दलित कवि जाति के आधार पर निर्मित व्यवस्था के खिलाफ खड़े होते हैं। यह व्यवस्था न केवल आदमी-आदमी को अलग कराते हैं, बल्कि उसे सारे अधिकारों से, सुख सुविधाओं से वंचित करते हैं। इसका विरोध हिन्दी दलित कविता का प्रबल पक्ष है:-

“जहाँ
आदमी की पहचान
उसके
गुण या दोष से न होकर
होती है केवल जाति से
समझो
वह मेरा देश है।”¹

दलित साहित्य का लक्ष्य ही समाज में जाति के नाम पर होने वाले सारे अन्याय को मिटाकर जनता में समानता एवं आत्मसम्मान का भाव जगाना है। हिन्दू धर्म दलितों को अछूत मानता है। जाति के नाम पर उसे

1. सूरजपाल चौहान - वह दिन ज़रूर आएगा, पृ. 86

नीचे दिखाना या हाशिए पर छोडने की कोशिश आज भी ज़ारी है। इसलिए कवि धार्मिक ग्रंथों को नकारते है, उसे जलाना चाहते हैं:-

“तुम धूर्त और व्यभिचारी हो
 मैं भुक्त भोगी हूँ
 तुमने गन्दगी फैलाने के लिए
 वेद/पुराण/मनुस्मृति का सहारा लिया
 कल उन्हें जलने का
 मुझे अधिकार न था
 मैं उन्हें जलाऊँगा
 अकेले मनुस्मृति जलाने से/समाज की जडता पर कुछ होनेवाला
 नहीं है।”¹

दलित कवि जातिगत भेदभाव, अन्याय, असमता, अस्पृश्यता अंधविश्वास, उत्पीडन जैसी सामाजिक समस्याओं को मिटाने चाहते हैं। वे समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों पर विश्वास रखते हैं जिसके द्वारा विश्वबंधुत्व की स्थापना करना चाहते हैं। ‘वह दिन कब आयेगा’ कविता के माध्यम से ओमप्रकाश वाल्मीकी जी ने इसी आशय को व्यक्त किया है:-

“वह दिन कब आयेगा
 बामनी नहीं जनेगी बामन
 चमारी नहीं जनेगी चमार
 भगिन भी नहीं जनेगी भंगी

1. मोहनदास नैमिशराय - भारतीय दलित साहित्य का विद्रोही स्वर, सं. विमल थोरात, सूरज बडत्वा, पृ. 46

तब नहीं चुभेंगे
जातीय हीनता के देश”¹

जातिगत भेदभाव कुछ समय पहले तक केवल गाँव या कस्बों में सीमित थे। लेकिन आज वह ज़हर शहरों में भी व्याज है। एक दलित व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जातीय असमानता को सामना करते हैं। जनता जितना भी शिक्षित हो, सवर्ण लोगों में जाति संबंधी भेदभाव आज भी कायम है। ‘घृणा और प्रेम कहाँ से शुरू होते हैं नामक कविता की पंक्तियाँ इस सवर्ण मानसिकता को व्यक्त करती हैं:-

“याद करो,
उस सरकारी क्लर्क का चेहरा
जिसे पानी पिलाने से कतराता है
चापरासी।”²

दलित, ब्राह्मणवादी व्यवस्था का घोर विरोधी है। मनुष्य में समानता, स्वतंत्रता, मानवीयता आदि भावों का नष्ट होने की सूचना है जाति के आधार पर मनुष्य को बाँटने की प्रवृत्ति। कुसुम वियोगी ने जाति के आधार पर निर्मित सामाजिक संरचना का विरोध इसप्रकार किया है:-

“कितना चालाक है ! रे
साले ने बांट कर रख दिया
आदमीयत को चार वर्णों में
ब्राह्मण ! क्षत्रिय ! वैश्य ! शूद्र !

-
1. ओमप्रकाश वाल्मीकी - अब और नहीं, पृ. 103
 2. ओमप्रकाश वाल्मीकी - बस्स ! बहुत हो चुका, पृ. 42

हमारी तो
कर ही दो गिनती
अन्त्यज और अछूतों में।”¹

इस प्रकार कहें तो जातिप्रथा के आगे मानवीय मूल्य बेकार हो गए हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के इतने साल बाद भी देश में सवर्ण और अवर्ण जैसे भेदभाव मौजूद है। जाति, धर्म पर निर्मित समाज नहीं, समानता, भाईचारा, एकता जैसे मूल्यों के आधार पर निर्मित समाज ही देश को प्रगति की ओर बढ़ाते हैं।

दलित और राजनीति

भारत एक लोकतांत्रिक देश है। यहाँ सभी नागरिकों के लिए समान अधिकार है। लेकिन व्यावहारिक क्षेत्र में आज भी भेदभाव जारी है। संपत्ति, अधिकार और सुख सुविधाएँ देश के कुछ लोगों के लिए ही उपलब्ध हैं। इस जनतांत्रिक देश में दलितों के प्रति हो रहे इस विवेचन संविधान के खिलाफ है। राजनैतिक स्तर पर दलितों के प्रति इस भेदभाव का एक मुख्य कारण है राजनीति और धर्म के बीच के अनैतिक गठबंधन। जिसकी वजह से राजनैतिक मूल्यों का हास भारी मात्रा में हो रहा है:-

“जनसंख्या का
मात्र 3 प्रतिशत है! रे
जो काबिल है, ‘सत्ता और संपत्ति पर’
खूब छला जनगण को

1. कुसुम वियोगी - व्यवस्था के विषधर, पृ. 32

राम के नाम पर,
 मंदिर निर्माण को !
 चल पडा,
 हाथ में कमंडल लिए ! एक अदद आदमी
 होकर सवार राम-रथ पर !
 बन बैठा भारतीय संस्कृति का पोषक
 राष्ट्रीयता के नाम पर।”¹

दलित जीवन में उद्धार लाने के लिए सरकार ने अनेक योजनाओं का निर्माण किया है। लेकिन यह कागज़ों में ही सीमित रह जाती है। अधिकांश दलित लोग अशिक्षित हैं। इस अशिक्षा का लाभ उठाते हुए कुछ राजनीतिज्ञों ने सरकार द्वारा दलितों को दिये जानेवाली इस प्रकार की योजनाओं से लाभ उठाते हैं, पैसा लूटते हैं। ‘योजनाएँ नामक कुसुम वियोगी की कविता इस स्थिति का पर्दाफाश करती है:-

“गरीबी की
 जीवन रेखा की
 नीचे जानेवालो के लिए
 मंत्रालय से योजनाएँ
 गंगा की भाँति आती है
 भागीरथी के सिर,
 आते-आते सूख जाती है।”²

डॉ. अंबेडकर ने कहा था - “संविधान कितना ही अच्छा क्यों न हो, यदि उसके व्यवहार में लानेवाले लोग अच्छे नहीं हो तो संविधान निश्चित

-
1. कुसुम वियोगी - व्यवस्था के विषय, पृ. 32
 2. वही - पृ. 71

ही बुरा सिद्ध होगा। इसके विपरीत, संविधान कितना भी घटिया हो यदि उसके लागू करनेवाले लोग अच्छे हो, तो वे उस घटिया संविधान को भी अच्छा बना देंगे।”¹ राजनीतिज्ञों के आगे देश की जनता सिर्फ एक वोट है। वे वोट बैंक भरने के लिए इन्हें झूठे वादे देते हैं। लेकिन चुनाव जीतने पर इसका पालन नहीं करते हैं। इसको भली-भाँति जाननेवाले हैं आज के दलित लेखक।

“लोकतंत्र के सीने पर
दस्तक देनेवाले
चुनावी त्यौहार के दिन हमलावर बनकर
सारे देश में बिखर जाते
भाले और नेजे लिए
कहीं हलाकू और चंगेज खो में बदल जाते।”²

कंवल भारती के अनुसार:- “गरीबी के विस्तार से शासक वर्ग को सत्ता हासिल करने में सहायता मिलती है, क्योंकि गरीब आदमी न लोकतंत्र को समझता है और न उसमें अपनी भूमिका को। उसकी प्राथमिकता सिर्फ रोटी होती है, जिसे प्राप्त करने के बाद उसका वोट किसी भी तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। रोटी दिखाकर या उसका आश्वासन देकर उसे वोट देने से रोका भी जा सकता है और वोट हासिल भी किया जा सकता है”³ दलित कवि के अनुसार देश में लोकतंत्र नहीं, जाति तंत्र चलता है। इस शासन व्यवस्था पर उनका कोई विश्वास नहीं है। गरीब जनता की समस्याओं को

1. डॉ. जयप्रकाश कर्दम - इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन, पृ. 104
2. डॉ. कंवल भारती - दलित निर्वाचित कविताएँ, पृ. 114
3. डॉ. कंवल भारती - दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 132

लेकर सभागृहों में जो बहसें होती हैं, वह मात्र दिखावा है:-

“हमारे वजूद को
 धरती पर लाने हेतु
 योजनाएँ बनती हैं
 योजना के पेट में
 योजनाएँ पकती हैं
 विशाल सभागृह में
 जंगली रिवाज़ पर
 खूब बहस होती है
 मेज़ें थपकती हैं
 मेंजें उचकती हैं
 बौराये शब्द बीच
 टोपियों उछलती हैं
 आह ही बताएँ अब
 कैसा यह अनूठा तंत्र
 ढोंग तंत्र/ जाति तंत्र या कहें जाँक तंत्र”¹

इसप्रकार दलित कविता में राजनैतिक शोषण का खुला चित्रण मिलता है। दलित इससे मुक्त होकर समानता और स्वतंत्रता चाहते हैं। आज सत्ता में दलित भी भागीदार है। इससे राजनैतिक बराबरी, दलित समस्याओं का समाधान ढूँढने में एक हद तक मदद अवश्य मिलेंगे।

सामाजिक और आर्थिक बंधन

दलित जनता को हमेशा मुख्यधारा समाज से अलग रखा गया है।

1. मलखान सिंह - सुनो ब्राह्मण - पृ. 40-41

सामाजिक संरचना का निर्माण सवर्ण/उच्चवर्ग जनता ही करते हैं। जिसमें दलितों की उपस्थिति है ही नहीं। सामाजिक व्यवस्था में दलित हाशिएकृत है। स्वाधीन भारत में भी दलितों के सामाजिक जीवन में कोई बदलाव नहीं आया। वे आज भी अछूत हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकी ने इस सामाजिक यथार्थ का चित्रण यों व्यक्त किया है:-

“चूल्हा मिट्टी का, मिट्टी तालाब की
 तालाब ठाकुर का
 भूख रोटी की, रोटी बाजरे की।
 बाजरा खेत का, खेत ठाकुर का
 बैल ठाकुर का, हल ठाकुर का
 हल की मूँठ पर रखी हथेली अपनी
 फसल ठाकुर की, कुआं ठाकुर का
 पानी ठाकुर का खेत-खालिहान ठाकुर के
 गली-मुहल्ले ठाकुर के
 फिर अपना क्या?
 गाँव? शहर? देश?”¹

पहले सामाजिक श्रेणी में मानव का विभाजन श्रम के आधार पर किया जाता था, लेकिन बाद में वह जन्म के आधार पर हो गया। निम्न जाति में पैदा होने के कारण दलित, सारे अधिकारों से वंचित हैं। आज की परिस्थिति में भी दलितों की निर्मम हत्या की खबरें दिन-ब-दिन मिल रही हैं। सूरजपाल चौहान की ‘मुझे भी बचाओ’ नामक कविता इस अमानवीय व्यवहार को चित्रित करती है:-

1. डॉ. रजत रानी ‘मीनू’ हिन्दी दलित कविता, पृ. 69

‘और मैं
 इस देश का जीता जागता मानव
 जिसे पुकारा जाता है
 सभ्य और सुसंस्कृत लोगों में
 अछूत
 आये दिन
 घुमाया जाता हूँ नंगा
 गाँव शहर की गलियों में
 मेरी नाक में डालकर नकेल
 कर दी जाती है
 निर्मम हत्या मेरी
 दिन-दहाड़े।”¹

दलित जनता के लिए मुख्यधारा समाज पेशा भी निर्धारित करके रखा है। गंदगी उठाना, मैला उठाना, जूठन साफ करना जैसे काम ही दलितों को दिये जाते हैं। नौकरी के लगभग सभी उच्च पदों पर सवर्ण जनता की ही उपस्थिति है:-

“काश !
 तुम-
 किसी दलित के घर पैदा होते
 विशेषकर-
 दलितों में दलित कहे जाने वाले भंगी के घर
 तुम्हें उठानी पडती
 बजबजाती गंदगी
 और/ढोना पडता

1. सूरजपाल चौहान - क्यों विश्वास करूँ, पृ. 25

गू-मूत से भरा टोकरा
सिर पर रखकर।”¹

आर्थिक विषमता इन श्रम जीवियों के लिए एक बहुत बड़ी मुद्दा है। रक्त को पसीना बनाकर मेहनत करने पर भी गरीबी में ही जीना उसकी नियती बन गयी है। क्योंकि एक स्थायी नौकरी न मिलना, उचित वेतन न मिलना जैसी बातें उनकी आर्थिक विषमता के प्रमुख कारण हैं। आर्थिक अभाव को दूर करने के लिए दलित, महाजनों और ठाकुर से ऋण लेते हैं। ऋण न चुकाने के कारण उसे जीवन भर गुलामी को वरण करना पड़ता है:-

“भदई की, तीन पीढियाँ
बेगारी करते-करते
जवान हो गई
किन्तु, महाजन का कर्ज
दिन-प्रतिदिन
विधवा को बेटी - सा जवान
होता चला गया।”²

वैश्वीकरण के इस दौर में दलितों की स्थिति काफी खतरे में है। शिक्षा ही व्यक्ति में आत्मसम्मान की भावना जगाती है। इसलिए दलित कवि, शिक्षा पर बल देते हुए सामाजिक विद्रूपताओं को प्रतिरोध करने का आह्वान देते हैं। सुशीला टाकभौरे की ‘महंगाई’ शीर्षक कविता इस सामंती मानसिकता को व्यक्त करती है:-

-
1. सूरजपाल चौहान - क्यों विश्वास करूँ, पृ. 27 (फिर बात न करते -कविता)
 2. कुसुम वियोगी - व्यवस्था के विषधर, पृ. 32

“लडना है, अस्तित्व की
 आत्मसम्मान की लड़ाई
 उदारीकरण
 निजीकरण
 भूमंडलीकरण के दौर में
 श्रम का अवमूल्य
 शिक्षा का बहुमूल्य
 रोज़गार में स्पर्धा
 पहचान मिटने का खतरा।”¹

दलित कविताओं में श्रमिक जीवन यथार्थ का वास्तविक अभिव्यक्ति मिलती है। अभावों से भरी इन लोगों की ज़िन्दगी में भूख एवं कष्टताएँ ही हैं। जयप्रकाश कर्दम की ‘लालटेन’ नामक कविता इस अभावग्रस्त ज़िन्दगी की ओर इशारा करती है:-

“यूँ आर्थिक तंगी के कारण
 कभी-कभी हफ्तों तक
 बिना छूकी-भूनी सब्जी भी
 हमारे घर नहीं बनती थी
 प्रायः नमक के चावल
 या उबले हुए आलू
 नमक के साथ
 हम लोग खाते थे
 हमसे जो बचता, माँ वह खाती थी
 यानी हम सब की जूठन से ही

1. सुशीला टाकभौरे - स्वाति बूंद और खरी मोती, पृ. 75-76

वह अपना पेट भरती थी
कभी-कभी भूखी भी रह जाती थी।”¹

प्राचीन काल से ही दलित, संपत्ति एवं अधिकार से वंचित है। एक व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं (रोटी, कपडा, मकान) की पूर्ती के लिए वे निरंतर संघर्ष करते हैं। दलित कविताओं में सामाजिक एवं आर्थिक शोषण से मुक्ति की चाह है। अपने ऊपर सदियों से हो रहे अमानवीय व्यवहारों के प्रति विद्रोह एवं प्रतिरोध भी है।

दलित नारी

पुरुषसत्तात्मक समाज में नारी की स्थिति दयम दर्जे की है और इसमें भी दलित नारी दोहरे अभिशाप का शिकार है। आर्थिक एवं शारीरिक शोषण से दलित नारी का जीवन त्रासद स्थितियों से जूझ रहा है। सवर्ण नारी और दलित नारी की समस्याएँ अलग हैं। एक ओर नारी को सारी अत्याचारों को सहनी है जो संपूर्ण नारी वर्ग को सहना पडता है। दलित नारी को इसके अलावा छुआछूत, जातीय भेदभाव, अपवित्रता जैसी समस्याओं को भी सहनी पडती है। हिन्दी दलित कविता में दलित नारी जीवन को भी वास्तविक अभिव्यक्ति मिल गयी है। कविताओं में यथार्थ जीवन अभिव्यक्ति के साथ नारी का प्रतिरोध भी शामिल है।

आज की दलित नारी शोषण को सहने के लिए तैयार नहीं है। वे

1. डॉ. कवल भारती - दलित निर्वाचित कविताएँ, पृ. 114

सारे बन्धनों को तोड़ डालना चाहती है, स्वतंत्र जीवन बिताना चाहती है।
सुशीला टाकभौरे जी की कविता की पंक्तियाँ इसप्रकार है:-

“माँ बाप ने पैदा किया था
गूँगा
परिवेश ने लँगडा बना दिया
चलती रही
निश्चित परिपाटी पर
बैसाखियों के सहारे
कितने पडाव आए
आज जीवन के चढ़ाल पर
बैसाखियों चरमराती है
अधिक बोझ से अकुला कर
विस्फाटित मन हुंकारता है
बैसाखियों को तोड़ दूँ।”¹

दलित नारी आज काफी सक्रिय है। शिक्षा ने उसे आत्मविश्वास प्रदान किया है। उसमें स्वत्वबोध की चेतना उत्पन्न हुई है। अब वह अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए विद्रोह करती है। आत्मसम्मान के साथ जीना ‘उनका लक्ष्य बन गया है:-

“नहीं चाहिए/दान की गाय और/दया की बकरी
ये बहिष्कृत जन घर लाये है
सचेतना की सिंहनी / यह आश्वासन का घास नहीं खाती
किसी का स्वामित्व नहीं मानती / फिर भी/ यह हिंसक नहीं
अपने अस्तित्व की संरक्षक / सहयोगिनी है।”²

-
1. सुशीला टाकभौरे - यह तुम भी जानो, पृ. 24
 2. वही - पृ. 21

आत्म सजगता के इस दौर में भी दलित नारी के ऊपर होनेवाले शारीरिक शोषण की संख्या बढ़ रही है। सवर्ण पुरुष स्त्री पर बेरहमी से अत्याचार कर रहे हैं। जयप्रकाश कर्दम की कविता दमन की दहलीज़ पर में स्त्री की इस दयनीय स्थिति का खुला चित्रण है:-

“नोचे गए है निर्ममता से
 बेबस स्त्रियों के उरोज और नितम्ब
 उनकी योनियों में ठोके गए हैं
 जातीय अहं के खूटे
 उनकी चीत्कारों पर गूंजे है अट्टहास
 मारी गयी है खाली पेटों पर
 जूतों को ठोकरें
 रैदी गई है उनकी लाश
 गाँव हो या शहर
 यही रहा है सब जगह
 दलितों का हाल।”¹

धर्म की आड़ में स्त्री का शोषण बहुत प्राचीन काल से ही हो रहा है। देवदासी प्रथा इसका नमूना है। धार्मिक आड़बर के नाम पर पुरुष स्त्री शरीर का इस्तेमाल करते हैं। कभी-कभी आर्थिक अभाव भी स्त्री को वेश्यवृत्ति चुनने के लिए विवश करती है:-

“धर्म के नाम पर
 कहा जाये बनने को देवदासी

1. जयप्रकाश कर्दम - गूंगा नहीं था मैं (दमन की दहलीज़ पर) पृ. 38

तुम्हारी स्त्रियों को
करायी जाये उनसे वेश्यावृत्ति
तब तुम क्या करोगे?"¹

शिक्षा व्यक्ति को आत्मसजग बनाते हैं, अन्याय के विरुद्ध बोलने की ताकत देते हैं। इसलिए ही सवर्ण मुख्यधारा समाज दलितों को शिक्षा के क्षेत्र से दूर रखा। आज हम स्त्री शिक्षा पर ज़ोर देते हैं। लेकिन शिक्षा प्राप्त दलित स्त्रियों की संख्या बहुत ही कम है। कवि शिक्षा के महत्व बताते हुए शिक्षित होने का आह्वान देता है:-

“तू पढ महाभारत
न बन कुन्ती न द्रोपदी
पढ रामायण न बन सीता न कैकेयी
पढ कानून उलट महाभारत, पलट रामायण
पढ समाजशास्त्र बन सावित्री
फहरा शिक्षा का परचम।”²

दलित कविता में वर्ण व्यवस्था एवं जातिगत भेदभावों के खिलाफ विद्रोह के साथ अपनी अधिकारों की ओर पहल करती हुई परिवर्तन कामी सजग दृष्टि है। दलित अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करते हैं, प्रतिरोध करते हैं। वे एक ऐसी भविष्य का निर्माण करना चाहते हैं जहाँ सभी लोग समानता के साथ जी सकें।

1. ओमप्रकाश वाल्मीकी - सदियों का संताप, (तब तुम क्या करोगे) पृ. 51
2. डॉ. कंवल भारती - दलित निर्वाचित कविताएँ, पृ. 146

आदिवासी अस्मिता

वर्तमान समय में 'सभ्य कहे जानेवाले' मानव समाज के बाहर ऐसे अनेक जनजातियाँ हैं जो अपने सारे अधिकारों से वंचित हैं और सदियों से शोषण का शिकार हैं। समकालीन साहित्य, हाशिएकृतों का साहित्य है। इसमें आदिवासी विमर्श को भी अपना एक स्थान है। आदिवासी साहित्य से आदिवासी अस्मिता एवं उनके जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति मिलती है।

आदिवासी, धरती के मूल निवासी है। भारत में आर्यों के आगमन के साथ इन्हें जंगल की ओर पलायन करना पड़ा था। उस समय से लेकर आज तक वे जंगल में ही रहते हैं। सामूहिक जीवन बितानेवाले ये लोग अपने लिए एक भाषा, संस्कृति और परंपरा का निर्माण करके जी रहे हैं। यू. एन. ओ ने अपने घोषणापत्र में आदिवासी राष्ट्र को परिभाषित किया। इसके अनुसार - "आदिवासी राष्ट्र का तात्पर्य उन लोगों के वंशजों से जो किसी देश की वर्तमान भूमि के पूरे या कुछ भाग पर विश्व के अन्य भागों की किसी भिन्न संस्कृति अथवा नस्ल के लोगों द्वारा पराजित कर दिए जाने या उनके साथ किसी समझौते के तहत अथवा अन्य किसी तरह से वर्चस्वहीन अथवा औपनिवेशिक स्थिति में ढकेल दिए जाने के पहले से ही वहाँ रह रहे थे।"¹ आदिवासी संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से पृथक करनेवाले तत्व है, सामूहिकता, सहभागिता, सह अस्तित्व भाईचारा और प्रकृति के प्रति असीम प्रेम। रमणिका गुप्ता के अनुसार - "आदिवासी का मतलब होता है उनकी

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. 52

जंगल, ज़मीन, उनकी बोली, भाषा और उनकी संस्कृति अपनी जीवन शैली तथा उनका अपना शारीरिक गठन व नाक-नक्शा।”¹

अंग्रेज़ी शासनकाल में व्यापारिक तथा प्रशासनिक गतिविधियों के विस्तारण हेतु जंगलों से लकड़ी को बड़ी मात्रा में काटा गया। जंगलों में जीवन यापन करनेवाले आदिवासी समुदाय पर इसका बुरा असर पडा। क्योंकि जंगल ही उनके आजीविका का एकमात्र साधन था, उसे भी शासन द्वारा अधिग्रहीत कर लिया गया। इससे उनकी जीविका का स्रोत कमज़ोर हुआ साथ ही उनकी संस्कृति भी विखंडित हो गई। स्वाधीन भारत में भी आदिवासियों की इस त्रासदी में कोई विशेष बदलाव नहीं आया। औपनिवेशिक दौर में आदिवासियों की एक स्वतंत्र सत्ता थी। लेकिन साम्राज्यवाद देश में मज़बूत होने के साथ आदिवासियों का शोषण बढ़ता गया। विकास के इस दौर में भूमंडलीकरण और अन्य विकास योजनाएँ आदिवासी जीवन को और भीषण बना रहे हैं। मंत्रालय ने आदिवासियों की इस दयनीय स्थिति हेतु कुछ कारक तथा स्थितियों को भी रेखांकित किया है। इस प्रतिवेदन में बताया गया है कि “आदिवासी अर्थव्यवस्था की निम्न क्षमता, आदिवासी क्षेत्रों में खराब अधोसंरचना, निजी प्रतिष्ठानों तथा सार्वजनिक निजी भागीदारी की कमी, वन प्रबंधन की खराब प्रक्रिया तथा वनाधिकार कानून का उचित तरीके से पालन न होना, विकास प्रक्रिया के कारण आदिवासियों को विस्थापित करना, बल प्रयोग द्वारा आदिवासियों को उनके नैसर्गिक संसाधन

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी कौन, पृ. 24

तथा भूमि से हटाना तथा अधिकांश राज्यों द्वारा पैसा अधिनियम को ईमानदारी से पालन न करना इसका प्रमुख कारण रहा है।”¹

आज, आदिवासी समाज अपनी उपेक्षा एवं तिरस्कार के विरोध में प्रतिरोध कर रहे हैं। देश के विभिन्न हिस्सों से आदिवासी विद्रोह की खबरें आ रही हैं। आदिवासी आंदोलन इन जनजातियों में आत्मगौरव एवं चेतना जगाने के लिए सहायक हुए हैं। शिक्षित आदिवासियों के मन में स्वत्व का बोध और अस्मिता का भान दृढ़ होता जा रहा है। वे अपने हक के लिए संगठित हो रहे हैं। आदिवासी जनता जल, जंगल, ज़मीन से जुड़कर एक साधारण जीवन बितानेवाले वर्ग है। प्रकृति पर अगाध प्रेम रखनेवाले हैं। लेकिन जिस जंगल को वे अपने समझते थे, अब उस पर उनका कोई अधिकार नहीं है। वे आज उस जंगल के बाहर हैं। ये जंगल, नदियाँ, प्राकृतिक संसाधन सब उनकी संस्कृति से जुड़ी हुई हैं। जब ये सब नष्ट होते हैं, तब उनकी संस्कृति भी नष्ट होती है। और वे ‘सभ्य’ जनता की संस्कृति, उनके रहन-सहन और वेश-भूषा के अनुसार जीने के लिए विवश हो जाते हैं। समस्याएँ यहाँ से शुरू होती हैं।

आदिवासियों में आत्म सम्मान जगाना, अपनी पहचान बनाना, अपने ऊपर हो रहे सारे शोषण के खिलाफ लड़ने और संगठित होने की प्रेरणा देना ही आदिवासी साहित्य का लक्ष्य है। अपनी संस्कृति और बाहर

1. एस.एन. चौधरी, मनीषा मिश्रा, मनोज शर्मा - आदिवासी ग्रामों में टिकाउ विकास का यथार्थ, पृ. 5

से थोपी संस्कृति के बीच आदिवासी संघर्ष कर रहे हैं। आदिवासी साहित्य के मूल में आदिवासी दर्शन है। आदिवासी जीवन की विशेषताएँ, प्रकृति से उनका जुड़ाव, सामूहिकता, सहभागिता उनकी संस्कृति, उनकी समस्याएँ, जल-जंगल, ज़मीन, लोककथाएँ, मिथक मुहावरे, इत्यादि सब आदिवासी दर्शन के अंतर्गत आते हैं। आदिवासी साहित्य में कल्पना कम और अनुभूति की ईमानदारी ज़्यादा बुलन्द है। इसमें इन जनजातियों के शोषण, मुख्यधारा समाज द्वारा इन लोगों का तिरस्कार, इसके खिलाफ आदिवासी जनता का प्रतिरोध, असंतुलित विकास योजनाओं की परिणतियाँ आदि की अभिव्यक्ति मिलती है। आदिवासी साहित्य जनजाति समाज में चेतना जगायी। नब्बे के दशक के पश्चात् हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में आदिवासी जीवन, साहित्य लेखन का विषय बनकर आया। वरिष्ठ लेखक वंदना टेटे के विचार में :- “आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह ‘इंसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करनेवाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति और सृष्टि में जो कुछ भी है, जड चेतना, सभी कुछ सुन्दर है।... वह दुनिया को बचने के लिए सृजन कर रहा है। उसकी चिंताओं में पूरी सृष्टि, समष्टि और प्रकृति है।”¹

आदिवासी कविता, आदिवासी साहित्य विधाओं में सबसे सशक्त है। वास्तव में आदिवासी साहित्य का आरंभ कविता या लोकगीतों से माना जाता है। इन कविताओं में आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुएँ, जीवन

1. वंदना टेटे - आदिवासी साहित्य: परंपरा और प्रयोजन, पृ. 87

यथार्थ विस्थापन, नारी जीवन संघर्ष, विद्रोह, प्रतिरोध आदि का अंकन है। निर्मला पुतुल, हरिराम मीणा, अनुज लुगुन, महादेव टोप्पो, वंदना टेटे आदि का नाम आदिवासी साहित्य लेखन के क्षेत्र में उल्लेखनीय है।

आदिवासियों और विस्थापन

वर्तमान समय में आदिवासियों की सबसे बड़ी समस्या विस्थापन की है। भारत में अंग्रेज़ी शासन काल से ही विस्थापन की समस्या शुरू होती है। तब यह अंग्रेज़ी साम्राज्य को संपन्न और सुरक्षित बनाने के लिए, उत्पादन के लाभकारी हिस्से के लिए हुआ। आज औद्योगिकीकरण शहरीकरण और अन्य विकास योजनाओं के कारण विस्थापन हो रहा है। कल-कारखाने के निर्माण के लिए, खनन के लिए, बाँध के निर्माण जैसे अनेक कारणों से ज़मीन का अधिग्रहण होता है। जिससे पहाड़ समाप्त होते जा रहे हैं, वनभूमि सिमटते जा रही हैं और अनेक जीव-जंतुओं का नाश भी हो रहा है। जंगल और वहाँ के प्राकृतिक परिवेश में मिलकर रहनेवाले हैं आदिवासी। लेकिन आज वह अपने जंगल में से विस्थापित होता जा रहा है। विनोद कुमार शुक्ल की पंक्तियाँ इसप्रकार हैं:-

“जो प्रकृति के सबसे निकट हैं
जंगल उनका हैं
आदिवासी जंगल में सबसे निकट हैं
इसलिए जंगल उन्हीं का हैं
अब उनके बेदखल होने का समय है

यह वही समय है
 जब आकाश से पहले
 एक तारा बेदखल होगा
 एक पेड़ से
 पक्षी बेदखल होगा
 आकाश से चाँदनी
 बेदखल होगी
 जब जंगल से आदिवासी
 बेदखल होंगे
 जब कविता से एक-एक शब्द
 बेदखल होंगे।”¹

आदिवासी विस्थापन पर गंभीरता से नज़र डालते हुए कहा है:-
 जनकसिंह मीना ने कहा:- “भूमंडलीकरण के प्रतिफल में होनेवाला विस्थापन
 आदिवासियों को न केवल उनकी जड़ों से काटता है अपितु उनकी रोज़ी
 रोटी के संसाधन (जल, जंगल, ज़मीन) भी छीनता है और उन्हें पलायन
 के लिए मज़बूर करता है। पलायन से आशय है - उसकी भाषा, संस्कृति और
 ज़मीन से बेदखली।”² आदिवासियों को जंगल से बेदखल किये जाने के लिए
 कभी कभी उसपर नक्सलवाद का आरोप लगाया जाता है। उन्हें जंगल से
 पलायन करने के लिए मज़बूर करते हैं। कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की ‘बन्धूदास’
 नामक कविता विस्थापन की त्रासदी को चित्रित करती है :-

-
1. विनोदकुमार शुक्ल - वागर्थ दिसंबर 2010, आमुख से
 2. डॉ. जनक सिंह मीना, डॉ. कुलदीप सिंह मीना, भारत के आदिवासी चुनौतियों एवं संभावनाएँ, पृ. 44

“बन्धुदास को तुम जानते हो मोहन गांजू? तुम्हारे अपने जंगल से बेदखल किए जाने का बहुत गहरा रिश्ता है।”¹

जंगल में रहनेवाले आदिवासियों के लिए अपनी ज़मीन पर कोई हक नहीं है। विकास योजनाओं के कारण इन जनजातियों को अपने निवास स्थान से बेदखल होना पडा है। इस प्रक्रिया में सरकार भी पूँजीपतियों को सहायता देते हैं, आदिवासियों को नहीं। ये पूँजीवादी शक्तियाँ सब कहीं अपना वर्चस्व स्थापित करती हैं। लीलाधर मंडलोई की कविता इस सच्चाई को हमारे सामने रखती है।

“इस मिट्टी में खेलकर बडे हुए
 इस मिट्टी में माँ ने खदान के लिए गुटके बनाए
 इस मिट्टी से घर की भीत उठाई
 इस मिट्टी से पुरखों की आकृतियाँ दीवार पर उकेरीं
 इस मिट्टी से घर का चूल्हा बनाया
 इस मिट्टी से परिंदों के लिए सकोरे बनाए
 इस मिट्टी में रबी और खारिफ की फसलें पैदा की
 इस मिट्टी से तुलसी को मुरझाने से बचाया
 इस मिट्टी की नमी से पानी उगाया
 इस मिट्टी को पुरखों ने माथे लगाया
 इसे धूकर आज मुझे बेतरह रोना आया
 इस मिट्टी पर मेरा कोई हक नहीं
 सरकार का अध्यादेश तो यही कहता है।”²

-
1. कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह - बोलो मोहन गांजू, पृ. 44
 2. लीलाधर मंडलोई - भीजै दास कबीर, पृ. 23

विस्थापन से आदिवासियों को केवल अपनी ज़मीन ही नहीं बल्कि उनकी आजीविका के स्रोत उनकी भाषा एवं संस्कृति भी नष्ट हो जा रही है। अब खोने के लिए भी उनके पास कुछ नहीं है। इस पीडा का चित्रण महादेव टोप्पो की कविता 'सबसे बड़ा खतरा में' वर्णित है:-

“अपने ही घरों में
अपने ही जंगलों पहाड़ों के साम्राज्य में,
शेर थे कभी हम
अब मेमने हुए जा रहे हैं,
शेर से मेमने होने की प्रक्रिया में
सिर्फ अपने खेत खलिहान मकान ही नहीं खोये
है हमने,
धोयी है सैकड़ों वर्षों से अर्जित
पुरखों के गाढे पसीने की कमाई
अपनी भाषा संस्कृति और इतिहास।”¹

अतः कह सकते हैं कि आदिवासी साहित्य में विस्थापन एक प्रबल समस्या है। आज़ाद भारत में जंगल से बेदखल होते आदिवासियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। सरकार की विकास योजनाएँ आदिवासियों को पलायन के लिए मज़बूर करने के साथ उनके सामाजिक और आर्थिक जीवन में भी बुरा प्रभाव डालती है। मुआवजा व पुनर्वास के नाम पर उन्हें अधिकांशतः छल का ही सामना करता पड़ा। विस्थापित जनता इसप्रकार अपनी पहचान खो देती है।

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, पृ. 50

आदिवासी और प्रकृति

सदियों से आदिवासी समाज जंगलों में ही रहते हैं। वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करके अपनी आजीविका चलाते हैं। उनके मन में प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम है। वास्तव में प्रकृति का रक्षक है ये लोग। उनका जीवन पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर है। लेकिन आज स्थितियों बदल गयी। मुख्यधारा वर्ग की वजह से आदिवासियों को अपना निवास स्थान से बेदखल होना पडा। औद्योगिकीकरण, बाजारीकरण शहरीकरण और अन्य विकास योजनाओं के नाम पर मानव ने प्रकृति का अंधाधुंध दोहन किया। मानव अपनी स्वार्थ पूर्ती के लिए जंगलों का विनाश कर रहे हैं। इससे केवल आदिवासियों का ही नहीं बल्कि पूरे मानव समाज का अस्तित्व खतरे में पड़ रहा है।

आदिवासी लोग जंगल में स्वच्छंद एवं स्वतंत्र जीवन बितानेवाले हैं। लेकिन आज प्रकृति के ऊपर हो रहे इस क्रूरता को देखकर उनके मन में असह्य पीडा उत्पन्न होती है। सुविधाभोगी मानव जंगल में प्रवेश करते पेड़ों को काटते हैं, प्राकृतिक संसाधनों को लूटते हैं, पर्वतों को तोडकर समतल बनाते हैं। वन-पर्वत पृथ्वी को संतुलित रखने में नितांत भूमिका निभाते हैं। ग्रेस कुजूर की कविता है 'समय के पहरेदारी' पर्वतों को मिटाने की मानसिकता का चित्रण करती है:-

“पर्वतों के पत्थर
तोड रहे हो

बारूदी गंध से
 जीवन को मरोड रहे हो

 करोड़ों सालों में बने
 इन पर्वतों को
 तुम्हारे बारूदी मन ने
 फिर-फिर तोडा है
 और कुंवारी हवाओं को
 हर बार छेडा है।”¹

आदिवासी कविता का सरोकार पेड-पल्लव, नदी, पर्वत, गीत-
 संगीत आदि से है। इसप्रकार की संवेदना का अंकन ग्रेस कुजूर की ‘एक
 और जनी शिकार’ कविता का मुख्य स्वर है:-

“कहाँ गया वह फुटकल का गाछ
 जहाँ चढती थी मैं
 साग तोडने
 और जाती थी तुम्हारे लिए
 फगुआ के गीत
 जानेकिधर है।
 कोमल पत्तियों वाला
 कोयनार का गाछ
 जिसके नीचे तुम
 बजाया करते थे/ माँदर और बांसुरी?

1. प्रगतिशील वसुधा - अप्रैल -जून 2010, पृ. 24

अब कहाँ है वह अखरा?
 किसने उगाये हैं वहाँ
 विषैले नागफनी।”¹

सत्ता एवं सत्तासीन लोग आदिवासी जनता का शोषण करने में ही तत्पर रहते हैं। विकास के नाम पर वे सब आदिवासी जीवन में नुक्सान ही पहुँचाते हैं। आदिवासी जनता विकास के विरोधी नहीं, उनके विचार में विकास प्रकृति को सुरक्षित रखकर होना चाहिए। प्रकृति के अस्तित्व को मानकर विकास योजनाओं का रूपायन होना चाहिए। कवि ज्ञानेन्द्रपति कहते हैं:-

“इस आदिवासी गाँव के आँगन से गुज़रती हुई यह सडक
 अत्याचारियों के गुज़रने का रास्ता है
 यह इनके पैरों से नहीं
 यह इनके पैरों के लिए नहीं बना
 बड़े-बड़े रोड रोलर आए थे लूटेरे वाहनों के आने से पहले
 धरती कँपाते धीरे-धीरे चलते हुए विशालकाय रोड रोलर”²

बाँध निर्माण, खुदाई, औद्योगिकीकरण आदि कई कारणों से अनेक आदिवासियों को विस्थापित होना पड़ता है। खुदाई से हो रहे प्राकृतिक आघातों का उजागर करनेवाली कविता है निलय उपाध्याय की ‘भूमिगत आग’। इसमें खनन से गायब होती आदिवासी जनता का संकेत मिलती है:-

“जंगल की रंगों में गूँजते

-
1. प्रगतिशील वसुधा - अप्रैल -जून 2010, पृ. 21
 2. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ. 20

आदिवासी.... भील
कहाँ ... कहाँ गए सब के सब।”¹

आदिवासी समाज प्रकृति को सुरक्षित रखने के लिए, वृक्षों को काटकर जंगल को कंक्रीट में बदलने से बचाने के लिए निरंतर प्रयत्न करते हैं। प्रकृति को उसकी पूरी सुन्दरता एवं नैसर्गिकता के साथ बरकरार रखने का आह्वान आदिवासी कविताओं में है। अनुज लुगुन की कविता ‘हमारी अर्थां शाही नहीं हो सकती’ इसी की ओर इशारा करती है:-

“खेतों के आसमान के साथ
हमने चाहा कि जंगल बचा रहे
पृथ्वी को हम पृथ्वी की तरह ही देखें
पेड़ की जगह पेड़ ही देखें
नदी की जगह नदी
समुद्र की जगह समुद्र
और पहाड़ की जगह पहाड़।”²

राजनीति और सामाजिक समस्याएँ

आदिवासी समाज में जन्म लेने के कारण उन्हें कई प्रकार की कठिनाइयों एवं अपमान को सहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। हमें यह जानना चाहिए कि मुख्यधारा वर्ग के बाहर बड़ी प्रतिशत जनता है जो कई प्रकार के शोषण का शिकार है। उसकी वास्तविक समस्याओं के बारे में आज भी हम अनजान हैं। आदिवासी समाज प्रकृति के सहचर हैं। ज़्यादातर

1. निलय उपाध्याय - अकेला घर हुसैन का, पृ. 26
2. प्रगतिशील वसुधा - अप्रैल -जून 2010, पृ. 16

आदिवासी लोग अशिक्षित हैं। वे जल, जंगल, ज़मीन को ही अपना सबकुछ मानते हैं। आदिवासी को एक सामान्य मनुष्य की तरह मानने के लिए भी सभ्य कहनेवाले समाज तैयार नहीं है। उसे आदिवासी, वनवासी, जंगली, असभ्य जैसे ही परिभाषित करते हैं:-

“उन लोगों की तरह
शरीर में तुम्हारे भी लाल रक्त बहता है
हाथ, पांव, कान
नाक, मुँह, आँख आदि
सबकुछ तो वैसा ही है
मगर वे तुम्हें मनुष्य नहीं कहेंगे।
सबसे बड़ी त्रासदी तो यह कि
तुम्हें वनवासी, आदिवासी, गिरिजन
सब कुछ कह लेंगे
लेकिन कहेंगे नहीं
कभी तुम्हें इन देश का वासी।”¹

आज की बाज़ारीकृत दुनिया में आदिवासी जनता का शोषण नियत तरीके से हो रहा है। विनोदकुमार शुक्ल की कविता - ‘जंगल के दिन भर के सन्नाटे में’ ऐक और जंगली परिवेश तथा दूसरी ओर आदिवासी समाज पर बाज़ारीकरण का प्रभाव किस प्रकार पडा है, इसकी ओर संकत है -

“इधर उधर जंगल से
पहाड़ी के ऊपर से उतरकर

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, पृ. 50

सीधे-सादे वनवासी लोग
पेड़ के बीच इकट्ठे होते हैं
और इकट्ठे बाज़ार जाते हैं।”¹

मुख्यधारा समाज इन जनजातियों को अपरिष्कृत कहते हैं, उन्हें अयोग्य समझते हैं। अमानवीय व्यवहार करने पर भी मुख्यधारा वर्ग अपने को मुख्य कहते हैं, आदिवासी को नहीं। आदिवासी समाज के स्वत्व पर बाधा पहुँचानेवाले परिष्कृत समाज पर हरिराम मीणा ने अपना आक्रोश यों प्रकट किया है:-

“जिन्होंने हमें गोलियों से भूना
वे इनसान थे
जिन्होंने हमें टापुओं के इधर-उधर खदेडा
वे इनसान है
और जो हमारी नस्ल को उजाड़ेंगे
वे इनसान होंगे।”²

आजकल आदिवासियों के लिए एक मुख्य समस्या है धर्मांतरण। आदिवासी के लिए उनका जीवन और धर्म प्रकृति ही है। प्रकृति की स्वच्छंदता ही उनका सबसे बड़ा धर्म था। लेकिन आज आदिवासियों को अपने धर्म से खींचकर दूसरे धर्म में डाल रहे हैं। दूसरों की मर्जी से उनका धर्मान्तरण हुआ लेकिन मन से उस धर्म में वे मिल नहीं पा रहे हैं। अघोषित उलगुलान’ कविता में अनुज लुगून कहता है:-

-
1. विनोद कुमार शुक्ल - आकाश धरती को खटखटाता है, पृ. 96
 2. रमणिका गुप्ता - आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, पृ. 28

“बोलते हैं बोलनेवाले
केवल सियासत की गलियों में
आरक्षण के नाम पर बोलते है लोग केवल
उनके धर्मांतरण पर
चिंता है उन्हें
उनके हिंदू या ‘ईसाई’ हो जाने की...”¹

हमारे देश के राजनीतिक वातावरण भी आदिवासी जनता को एक स्वतंत्र जीवन जीने के लिए अनुकूल नहीं हैं। समाज एवं शिक्षा से वंचित इन लोगों को सरकार या शासन व्यवस्था से कोई सहायता भी नहीं मिल रही है। आदिवासियों की अशिक्षा का लाभ उठाते है वास्तव में ये राजनीतिक लोग। शिक्षा की कमी के कारण वे अपने अधिकारों के प्रति भी अनभिज्ञ हैं। आदिवासी जनता के संरक्षण हेतु सरकार, कई कानून एवं योजनाओं का निर्माण करने पर भी इसका लाभ उन्हीं तक पहुँचते नहीं। संविधान में आदिवासी को अनुसूचित जनजाति के रूप में परिभाषित करते हैं। इसी को अनुज लुगुन ने अपनी कविता में व्यक्त किया:-

“वे जो सुविधाभोगी है
या मौकापरस्त है
या जिन्हें आरक्षण चाहिए
कहते हैं हम आदिवासी है, वे जो वोट चाहते है
कहते हैं तुम आदिवासी हो, वे जो धर्म प्रचारक हैं

1. प्रगतिशील वसुधा - अप्रैल -जून 2010, पृ. 184

कहते हैं
तुम आदिवासी जंगली हो।”¹

सरकारी मामलों की यही स्थिति है कि आदिवासी सुधार योजनाओं के ज़रा भी लाभ उन तक नहीं पहुँच रहे हैं। आदिवासी और उनकी जीवन परिस्थिति उनकी संस्कृति के प्रति पूर्ण अज्ञता के साथ बनायी जा रही सरकारी योजनायें वास्तव में अपने उद्देश्य के विपरीत फल दे रहे हैं:-

“लो जिसे सज्जनतावश राजधानी कहते हैं
वहीं विराजमान रहते कई श्रेष्ठ लोग
देश सेवा का कर्तव्य निभाने
जनसेवा की राह बताते
वे गढते हैं योजनाएँ
उन इलाकों के लिए
जहाँ वे कभी गए नहीं”²

जंगल से विस्थापित आदिवासी लोग बेरोजगार बन जाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप वे आर्थिक विषमता भी झेल रहे हैं। जंगल काटने का मतलब आदिवासियों की जड़ काटना है। फलतः वे भूखमरी और सांप्रदायिकता का शिकार बन जाते हैं। जो व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं उसे नक्सल कहकर मारा जाता है। निर्मला पुतुल इस वास्तविकता को खुलकर यों प्रस्तुत करती है:-

-
1. प्रगतिशील वसुधा - अप्रैल -जून 2010, पृ. 185
 2. वागर्थ 268 - नवंबर 2014, पृ. 46

“चर्चा करना चाहती हूँ आपसे
 भूख बीमारी से लडते-मरते मंगारू, बुधवा और
 इलाज़ के लिए राशनकार्ड गिरवी रखनेवाले
 समरू पहाडिया की बात करना चाहती है
 जड खाकर जिन्दा संतालो और
 चूहे पकाकर खा रहे भूखे नंगे
 पहाडिया बच्चों की बात करना चाहती हूँ।”¹

आदिवासी औरत

आदिवासी कविताओं में स्त्री की असुरक्षा और अस्तित्वहीनता का चित्रण है। आदिवासी समाज में स्त्री का संघर्ष मुख्यधारा की स्त्री से अलग नहीं है बल्कि अधिक है। आदिवासी स्त्री अपने समाज में भी शोषण का शिकार है। वे सारे अधिकारों से वंचित हैं। अशिक्षा, अंधविश्वास, उत्पीड़न आदिवासी स्त्री के जीवन की दर्दनाक बनाते हैं। लेकिन आज इस शोषण को सहने के लिए वह तैयार नहीं है। वे आत्मसजग होकर सारी शोषणों के खिलाफ आवाज़ उठाती हैं, प्रतिरोध करती हैं। आदिवासी कविता के क्षेत्र का सजग स्त्री सान्निध्य है निर्मला पुतुल। उनकी कविताओं में स्त्री अस्मिता का सशक्त अंकन है।

समकालीन समय में स्त्री अपने अस्तित्व के प्रति चिंतित है। स्त्री, अपने आपको रसोई और बिस्तर की सीमाओं से मुक्त करना चाहती है। पुरुष के लिए स्त्री सिर्फ एक देह है। स्त्री की संवेदनाओं एवं पीड़ा को जानने

1. निर्मला पुतुल - बेघर सपने, पृ. 45

की कोशिश पुरुष कभी नहीं करता। निर्मला पुतुल अपनी कविता में स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व पर ज़ोर देते हुए कहती है:-

“क्या तुम जानते हो
 एक स्त्री के समस्त रिस्ते का व्याकरण?
 बता सकते हो तुम
 एक स्त्री को स्त्री दृष्टि से देखते
 उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?
 अगर नहीं।
 तो फिर क्या जानते हो तुम
 रसोई और बिस्तर के
 गणित से परे
 एक से परे
 एक स्त्री के बारे में।”¹

आदिवासी इलाकों में रहनेवाली स्त्री मानसिक एवं शारीरिक शोषण का शिकार है। आर्थिक विषमता दूर करने के लिए वह दिन-रात मेहनत करती है। इन स्थिति में स्त्री देह का लाभ उठानेवाले पुरुषों की संख्या भी कम नहीं है। निर्मला पुतुल स्त्री शरीर का शोषण करनेवाले लोगों पर अपना आक्रोश यों प्रकट करती है:-

“ये वे जो लोग है जो दिन के उजाले में,
 मिलने से कतराते
 और रात के अंधेरे में,

1. निर्मला पुतुल - अपने घर की तलाश में, पृ. 2

मिलन का मांगने है आमंत्रण
 ये वे लोग है जो रात का
 लबादा ओढ़े
 शहर के आखिरी छोर पर गिरा अपने अंदर की सारी गंदकी,
 गंदला रहे हैं हमारी बस्तियों।”¹

आदिवासी बस्तियों में घुसते सत्ताधिकारी वर्ग उनकी सेवा नहीं,
 बल्कि उनसे सब कुछ लूट रहे हैं। इन जन विरोधी साहबों के कुकृत्य का
 चित्रण विनोददास का कविताओं में मिलती है:-

“यही वह वक्त होता है
 आती है शहर से एक जीप
 उटाती हुई धूल हमारी इच्छाओं पर
 उतरते हैं टाई पहने साहब
 हुक्म देते हैं हम देखेंगे नाच
 हम नाचते हैं कसते हैं वे फाब्तियों
 भूली यातनाएँ प्रकोप और जंगल
 याद आने लगते हैं हमें फिर
 सुबह होती है पडी मिलती है बंगलें में
 हमारे कुनबे की बेसुध लडकियाँ
 उनके देह पर चमकते हैं
 बात और नाखुन के उभरे निशा
 दिन के उजाले में।”²

आदिवासी समाज पुरुषसत्तात्मक होने पर भी स्त्री घर के बाहर

-
1. निर्मला पुतुल - आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, पृ. 77
 2. विनोददास - खिलाफ हवा से गुज़रते हुए, पृ. 24-25

जाकर काम करके घर की गरीबी को मिटाने के लिए प्रयत्न करती है। बच्चों की देख-भाल करती है। सदियों से पीड़ित इस स्त्री जीवन में दुःख के अलावा कुछ नहीं है। आदिवासी साहित्य में नारी की वेदना को लेकर विद्रोह एवं प्रतिरोध का स्वर ही प्रमुख रहा है।

आदिवासी समाज के अस्तित्व एवं संघर्ष को अंकित करना आदिवासी कविता का मुख्य उद्देश्य है। वर्तमान समय में वे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक पहचान और अस्तित्व के संकट से गुज़र रही है। जिसे बचाने के लिए आदिवासी समुदाय संघर्षरत है।

किन्नर

समकालीन साहित्य हाशिएकृतों के जीवन और उनकी समस्याओं से जुड़े हुए हैं। स्त्री, दलित, आदिवासी के अलावा समाज में कुछ उपेक्षित वर्ग भी हैं जो लंबे समय से शोषण का शिकार एवं अपमान को झेल रहे हैं। इसमें 'हिज़डा' लिंगभेद-भाव के कारण हाशिएकृत वर्ग है। समाज ने मनुष्य को केवल दो वर्गों में विभक्त किया - पुरुष। और स्त्री। लेकिन इसके अतिरिक्त एक ओर वर्ग भी है वह है 'किन्नर'। 'किन्नर' से अभिप्राय यह है कि जननांगों के स्पष्ट अभाव के कारण वे न पुरुष होता है और न स्त्री। अथवा पुरुष होकर भी स्त्रैण स्वभाव के लोग, जिन्हें पुरुषों की जगह स्त्रियों के बीच रहने में सहजता महसूस होती है। इस जैविक अनिश्चितता के कारण समाज के अन्य वर्गों से ये कुछ अलग दिखाई पड़ते हैं। जिसके

कारण हिजड़ों को सदियों से हाशिए पर छोड़ दिया है। उन्हें कभी भी मान्यता, सम्मान और आदर देने के लिए मुख्यधारा समाज तैयार नहीं थे।

समकालीन समय में भारतीय समाज एवं साहित्य में किन्नर जीवन चर्चा का विषय बन गया। किन्नर समूह समाज के आगे आकर अपना अधिकार माँग रहा है। प्राचीन काल से वे अपने ऊपर हो रहे शोषण को रहकर आए हैं। लेकिन आज वे सामाजिक अन्याय के खिलाफ प्रतिरोध करने में नहीं हिचकते।

किन्नर जीवन का संघर्ष जन्म से शुरू हो जाता है। अगर एक बच्चा हिजड़ा होकर जन्म लेता है तो सबसे पहले उनके माँ-बाप ही उसकी उपेक्षा करते हैं। किन्नर को अभिशाप मानते हैं। समाज भी इसकी निंदा करते हैं। लेकिन किन्नर भी इन्सान है। नर और नारी के समान वे भी ईश्वर की सृष्टि है। किन्नर भी माँ की कोख जन्मे और एक पिता को संतान है। राजगोपाल सिंह शर्मा ने 'क्या है अपराध मेरा' नामक कविता के द्वारा समाज के सामने प्रश्नचिह्न खड़ा किया है किन्नर समाज से पूछते हैं उनकी उपेक्षा का कारण क्या है? किसी भी प्रकार के अपराध नहीं करने पर भी उसके ऊपर ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं?

“इन्सान हूँ मैं
कोई अजूबा नहीं,
अभिशाप है यह

या कोई वरदान मुझे
जानना चाहता हूँ
अधिकार है मेरा वह तो
बताइए आप भी।”¹

हिज़डों के लिए कई शब्दों का प्रयोग करते हैं जैसे उभयलिंगी किन्नर, त्रितीय लिंगी आदि। लेकिन समाज हमेशा ‘हिज़डा’ शब्द को एक गाली के रूप में इस्तेमाल करते हैं। दूसरों को नीचे दिखाने के लिए असभ्य शब्द के रूप में भी इसका प्रयोग करते हैं। किन्नर समुदाय की वेदना को चित्रित करनेवाला काव्यसंग्रह है गीतिका वेदिका द्वारा लिखित ‘अधूरी देह’। उन्होंने किन्नरों की विवशता को इसप्रकार रेखांकित किया है:-

“नहीं नारी हूँ मैं और नर नहीं हूँ
विवश हूँ मूक हूँ पत्थर नहीं हूँ
जिसे मौका मिला उसने सनाया
सभी ने रक्त के आँसू रुलाया अधूरी देह
अधूरी देह क्यों मुझको बनाया
बना ईश्वर मुझे ये क्या सुहाया
किसी का प्यार हूँ न वास्ता हूँ
न तो मंजिल हूँ न रास्ता हूँ
कि अनुभव पूर्णता का हो न पाया
अजब यह खेल रह रह धूप छाया
अधूरी देह...।”²

-
1. सामयिक सरस्वती - अप्रैल - सितंबर 2018, पृ. 78
 2. गीतिका वेदिका - अधूरी देह, पृ. 13

हमारे समाज में इस तृतीय लिंग के लोगों का सहयोग देनेवाले बहुत कम ही हैं। इनकी स्थिति अत्यंत दयनीय है। समाज इन्हें हेयदृष्टि से देखते हैं और इससे संपर्क रखना भी नहीं पसंद करते हैं। लेकिन आज किन्नर अपनी अस्मिता पर चिंतित है, अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। परिवार से विस्थापित ये लोग समाज के प्रत्येक कार्यक्षेत्र पर विवेचन महसूस करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में, नौकरी के क्षेत्र में, राजनीति के क्षेत्र में सब कहीं उन्हें अपमान ही मिलते हैं। आम नागरिक के सारे अधिकारों से वंचित है ये लोग। शैलेन्द्र जय 'बृहन्नल्ला' नामक कविता में इस लिंग भेदभाव को यों प्रकट करते हैं:-

“परन्तु वाह रे समाज
 नौकरी के आवेदन पत्र में
 रहकर महिला/ पुरुष का खाना
 पहले ही कर दिया वंचित इन्हें नौकरी से
 और यदि वोट मांगकर
 नपुंसक नेताओं को हराकर
 ये जीत गये चुनाव
 तो महिला/पुरुष होने की
 शर्तों के रूप में
 इनको दी गयी चुनौती के आगे
 चुनाव की अदालतें भी
 हो जाती है असहाय।”¹

देश के प्रत्येक नागरिक की सुरक्षा वहाँ की शासन व्यवस्था का

1. सामयिक सरस्वती - अप्रैल - सितंबर 2018, पृ. 75

दायित्व है। लेकिन संख्या में कम होने के कारण सरकार भी इनके प्रति उपेक्षा का भाव दिखाता है। किन्नरों को भी समाज में सामान्य मानव के समान विचरण करना चाहिए। इसके लिए अनुकूल वातावरण निर्मा करने में व्यवस्था में संशोधन में लाने की आवश्यकता है। समाज एवं शासन, दोनों मिलकर ही किन्नर जीवन को बेहतर बनाने में सक्षम हो सकेंगे।

पौराणिक काल से ही किन्नरों का अस्तित्व दिखता है। रामायण, महाभारत जैसे पौराणिक ग्रंथों में किन्नरों का उल्लेख है। तब उन्हें हेय भी नहीं माना जाता था। खुद शिवजी द्वारा धरा गया 'अर्धनारीश्वर' किन्नर का ही एक रूप है। ये प्रतीकात्मक है कि हर मनुष्य में नर और नारी दोनों निवास करते हैं। उनका कम या ज़्यादा का अनुपात ही कुछ को पूर्ण नर और कुछ को पूर्ण नारी बनाता है। जहाँ ये अनुपात गड़बड़ा जाता है वहीं किन्नर जन्म लेता है। जहाँ समाज किन्नर को अपूर्ण समझते हैं, वहाँ किन्नर अपने आप को संपूर्ण मानते हैं:-

“हाँ तो सुनो
मैं तो पूर्ण हूँ अपने मन के विस्तृत
धरातल पर,
नहीं हूँ प्रकृति की गलती मैं तो प्रकृति का उपहार कोई
क्योंकि महसूस किया है मैंने अक्सर
मैं ही हूँ अर्धनारीश्वर।”¹

1. सामयिक सरस्वती - अप्रैल - जून 2018, पृ. 73

बाल जीवन

बच्चे लोग भविष्य का प्रतिनिधित्व करनेवाले हैं। वर्तमान समय में मानव जीवन अनेक समस्याओं को सामना कर रहे हैं। इस स्थिति में बाल जीवन पर चिंतित होना भी समय की माँग है।

भारत जैसे विशाल देश में बाल श्रम भी एक ऐसी समस्या है जो धीरे-धीरे अपने विस्तार कर रही है। हमारे देश में गरीबी रेखा के नीचे रहकर जीवन यापन करनेवाले लोगों की संख्या बहुत अधिक हैं। इसप्रकार आर्थिक दृष्टि से निचले परिवार में जन्म लेनेवाले बच्चों की स्थिति बहुत ही दयनीय हैं। ये बच्चे शिक्षा प्राप्त करने का मूल अधिकार से भी वंचित हैं। उनका जीवन अभाव से ग्रस्त रहता है। जब परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाती हैं तो उन्हें विवश होकर काम के लिए जाना पड़ता है। राजेश की कविता 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' बाल जीवन की विवशता को अनावृत करनेवाली है:-

“कोहरे से ढँको सड़क पर बच्चे काम पर जा रहे हैं
 सुबह सुबह
 बच्चे काम पर जा रहे हैं
 हमारे समय की सबे भयानक पंक्ति है यह
 भयानक है इसे विवरण की तरह लिख जाना
 लिख जाना चाहिए इसे सवाल की तरह।”¹

परिवार की गरीबी दूर करने के लिए तथा पेट भर भोजन खाने

1. राजेश जोशी - दो पंक्तियों के बीच, पृ.23

केलिए इन्हें मज़बूरन में श्रम का चयन करना पड़ता है। लेकिन इन बाल मज़दूरों के प्रति मालिक का भर्ताव हमेशा सहानुभूतिपरक नहीं होता है। ऐसी कई घटनाएँ आजकल हमारे सामने हैं जिसमें बाल नौकरों को भीषण स्थितियों का सामना करना पड़ा है। मीडिया और अधिकारी लोग भी ऐसे बच्चों को अदनेखा करते हैं। ‘बाल मज़दूरी कैसे मिटाएँ’ यह केवल उन लोगों की चर्चा का विषय रह जाता है। नीलेश रघुवंशी जी की ‘मीटिंग’ नामक कविता का केन्द्रीय विषय यह है:-

“चल रही है मीटिंग
चाय पीते हुए सब कर रहे हैं बहस
काट रहे हैं कागज़ पर कागज़
खाली कप लेने आया है लडका
अचरज से देखता-सुनता उठा रहा है कप
लडके के चेहरे पर खुली आँख के सपने-सा कुछ है
जो उसे भीतर भी नहीं रहने देता
और
रोकता है बाहर जाने से
शुक्र है
बाल मज़दूरी कैसे मिटाएँ
मीटिंग का मुद्दा नहीं है आज।”¹

भारत सरकार ने बाल श्रम को अवैध घोषित कर दिया है। किन्तु अनेक जगहों पर आज भी बच्चे काम कर रहे हैं। इसका कारण किसी न

1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ.46

किसी प्रकार से यह समाज ही है, हमारी राजनीतिक व्यवस्था भी है। बाल श्रम की समस्या के मूल में गरीबी और अशिक्षा है। जब तक देश में भुखमरी रहेगी तथा देश के नागरिक शिक्षित नहीं होंगे तब तक इसप्रकार की समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहेंगी:-

“लाखों करोड़ों बच्चे प्लेटें धोते थे, भुट्टे ब्रड
प्लास्टिक के सामान
अंडे-अखबार
और अटर शटर चीज़ें बेचते मकोड़ों की तरह रेंगते थे
शहर भर में
और सौ साल से ज़्यादा लगती थी उनकी उम्र।”¹

कलम और किताब लेने के हाथ में गाड़ी के नट-बोल्ट लेते बच्चों का करुण चित्रण नीलेश रघुवंशी जी के ‘गैराज’ नामक कविता में मिलती है। सपने देखकर, खुश होकर चलने के उनकी इस उम्र में वे बच्चे ऑयल की गंध से भरा कपडा पहनकर काम करते हैं:-

“उसके सपनों की दिनचर्या
नट-बोल्ट पाने, गाड़ी का खुला इंजन ऑयल से सने कपडे
इसी स्वप्न के चलते गैराज के जाले साफ कर रहा है लडका
हाथ में पान लिए और पेचर सुधारते हँस रहे हैं
उसी की उमर के लडके
आंसुओं को भीतर तक पीता, पाने के नंबर बुदबुदाता
खुले इंजन के संग गैराज के उस्ताद को देख रहा है लडका।”²

-
1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है, पृ. 26
 2. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ. 47

व्यक्ति के विकास में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा से वंचित बच्चे वास्तव में असमता पर टिकी व्यवस्था का शिकार है। प्रभात त्रिपाठी की कविता 'सुबह पाँच बजे के झीने-झीने अंधेरे में' में एक ऐसी घटना वर्णित है, जिसमें तीन छोटे-छोटे बच्चे सुबह के झीने-झीने अंधेरे में कचरे के ढेर पर झुके बैठकर कुत्तों के साथ रोटी बाँटकर खा रहे हैं। कविता इसी के साथ एक अन्य दृश्य की तरफ भी हमें ले चलती है जहाँ श्रम मंत्री का निवास स्थान है। 'उसी गली में उस वक्त हमारा श्रम मंत्री खर्टा मारकर सो रहा है।' इसमें कवि बच्चों की ज़िन्दगी के सथ खिलवाड़ करने वाली व्यवस्था पर भी तीखा प्रहार करते हैं:-

“सुबह पाँच बजे के झीने-झीने अंधेरे में
तीन छोटे बच्चे कचरे के ढेर पर झुके
फिर चिपकाए
कुत्तों के साथ बाँटकर खा रहे हैं
श्रम मंत्री खर्टा मार रहे हैं।”¹

कुल मिलाकर आज की कविता में बाल मज़दूरी का चित्रण सबसे अधिक दिखाई देता है। देश में बढ़ती हुई बाल-श्रमिकों की संख्या देश के सम्मुख एक गहरी चर्चा का विषय बन गया है। इसका समाधान न होने पर नतीजा अत्यंत भयावह हो सकते हैं। समकालीन कविता में इस भयावहता का यथार्थ चित्रण के साथ बच्चों के माध्यम से सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक विडम्बना को भी उभारा गया है।

1. प्रगतिशील वसुधा (अंक 44) जनवरी-मार्च 2013, पृ. 9

वृह जीवन

इक्कीसवीं सदी में विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में जब मानव, प्रगति की ओर जा रहे हैं तो दूसरी ओर मानवीय मूल्यों का भी क्षरण होता जा रहा है। मानव-मानव के बीच संवेदनाएँ नष्ट हो रही हैं। बाज़ारवादी संस्कृति के प्रभाव से मनुष्य सबकुछ को उपयोगिता की दृष्टि से देखना शुरू किया। जो उनके लिए अनुपयोगी है, उसे वह बिना किसी संकोच के साथ छोड़ देता है। इसने मानव के पारिवारिक संबंधों पर भी भारी आघात पहुँचाया। जिसका नतीजा है देश में बढ़ती वृद्धाश्रमों की संख्या। वर्तमान समय में देश में बुजुर्गों की हालत दयनीय एवं चिंताजनक है। आज बड़ी संख्या में बुजुर्ग अपने ही बेटे या बेटी द्वारा उपेक्षा का शिकार होते जा रहे हैं।

पारिवारिक संरचना 'संयुक्त' से 'अणु' या एकल परिवार में तब्दील हो गया है। इसमें बुजुर्गों के लिए कोई स्थान नहीं है। भारतीय संस्कृति में बुजुर्गों को पूजनीय मानते थे। लेकिन आज मानव पाश्चात्य संस्कृति के चकाचौंध में डूबकर सारे मानव मूल्य खोने की स्थिति में पहुँच गये हैं। वे भौतिक सुख सुविधाओं में निर्भर होकर अत्यंत सुखी जीवन बिताना चाहते हैं। इसके लिए आज के युवा लोग अपनी माता-पिता को भी उपेक्षित करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

बचपन और बूढ़ापा जीवन की दो ऐसी अवस्थाएँ हैं जब भावनात्मक

और शारीरिक देखभाल की सबसे अधिक ज़रूरत होती है। अणु परिवार के संकुचित मनोभाव में जीवन जीनेवाले बच्चों के लिए वृद्ध जन केवल अभिशाप हैं। अशक्त आर्थिक असुरक्षा, भावनात्मक और शारीरिक देखभाल करनेवालों की गैरमौजूदगी और एकाकीपन जैसे कई कारण मिल कर बुजुर्गों को गैरज़रूरी होने का अहसास करते हैं।

समकालीन साहित्य, समाज द्वारा उपेक्षित लोगों के पक्ष में खड़े होते हैं। इसलिए समकालीन कविता में भी वृद्ध जीवन की इस त्रासदी का चित्रण उपलब्ध है।

परिवार में वृद्धों की दर्दनात्मक स्थिति का चित्रण अनामिका जी की अनेक कविताओं में हैं। वृद्धाएँ धरती का नमक हैं नामक कविता इस दृष्टि में उल्लेखनीय है। आज के ज़्यादातर पढ़े लिखे बच्चे बुजुर्ग लोगों को बोझ मानते हैं। बुजुर्ग पुरुषों की तुलना में बुजुर्ग स्त्रियों की स्थिति काफी कष्टदायक है। अधिकांश वृद्धाएँ घर के एक निश्चित कोने में चुपचाप बैठकर, घर का सारा कामकाज करके चुप्पी से जीवन जीने के लिए विवश हैं:-

“जो घर में हो कोई वृद्धा
खाना ज़्यादा अच्छा पकता है
पदै-पेटीकोट और पायजामे भी दर्जी और रफूगरों के
मोहताज नहीं रहते

रहती हैं वृद्धाएँ घर में रहती हैं
लेकिन ऐसे जैसे अपने होने की खातिर हो क्षमाप्रार्थी
लोगों के आते ही बैठक से उठ जाती
छुप-छुपकर रहती हैं छाया-सी माया सी।”¹

वृद्ध लोग बहुत ही अनुभवी हैं। इस अनुभवी जीवन का पाठ वे बच्चों को सिखाते हैं। सही और गलत का रास्ता दिखाते हैं ये लोग। गौरी त्रिपाठी की कविता घर में वृद्ध जनों की उपस्थिति को अनिवार्य समझती है:-

“वे थी
तो घर घर थे
वे थीं तो फूलों में बला की खूबसूरती थी
वे थी तो खून में रिश्ते के बलवले उठते थे
वे थी
तो उम्र के आखिरी पडाव पर ठिठके
झुर्रीदार हाथ सलामत थे।”²

अपने बच्चों की अवहेलना के कारण अनेक बुजुर्ग लोग जीवन में अकेलापन महसूस करते हैं। युवा पीढ़ी अपने काम में इतना व्यस्त है कि अपनी माँ-बाप की देखभाल के लिए भी उनके पास समय नहीं है। इस तरह का भर्ताव वृद्धजनों के लिए काफी पीड़ादायक है। लेकिन एक चुप्पी के साथ सबकुछ सहकर वे जी रहे हैं। राधेश्याम ने अपनी कविता में बुजुर्गों के इस घुटन को इस प्रकार चित्रित किया है:-

-
1. अनामिका - कवि ने कहा, पृ. 24-25
 2. वागर्थ - जुलाई 2019, पृ. 52

“बेटों के शासन में
 बाबा को अब चुप रहना है
 कुंठा, घुटन, चुभन है
 फिर भी साँसों को चलना है।”¹

वैज्ञानिक प्रगति की इस दुनिया में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन तेज़ रफ्तार से चलता है। बचपन एक नींव है जिसे मज़बूत बनाने में समय बीतता है। जवानी ज़िन्दगी को बनाने में बीत जाती हैं पर बुढ़ापा बस बीते हुए पलों को याद करने में बीतता है। अधिकांश वृद्ध जन जीवन में अकेलापन महसूस करनेवाले हैं। व्यक्ति अपनी युवावस्था में बच्चों के प्रति, अपने परिवार के प्रति सरा दायित्व निभाने के बाद जब 60 या 65 की आयु में रिटायर्ड हो जाते हैं तब वह ज़्यादा तनावग्रस्त हो जाता है:-

“बिटिया की शादी हो गयी
 काम-धंधों में लग गये बेटे
 उनकी भी शादियाँ हो गयी, बच्चे हो गये
 सब अपने-अपने घरों में व्यस्त हो गए।
 अब क्या करें घर बैठे-बैठे?”²

आज के यांत्रिक युग में हमारी संवेदनाएँ अत्यंत यांत्रिक हो गयी है, यह अत्यंत दुखदायक है। नई सामाजिक-आर्थिक स्थितियों ने बुजुर्गों को हाशिए पर धकेला है। यौवनावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले व्यक्ति

-
1. राधेश्याम -नई धारा - अप्रैल -मई 2010, पृ. 148
 2. मनोहर वंध्यापाध्याय - बूढ़ापे में कविता - समकालीन भारतीय साहित्य (सितंबर - अक्तूबर, 2013

अपने परिवार के लिए, खासकर बच्चों के लिए उत्तरदायित्वों की चक्की चलाने लगते हैं। यह प्रक्रिया प्रौढावस्था तक चलती रहती है और जब वे किसी के लायक नहीं रह जाते हैं तब वृद्धाश्रमों में मरने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस सच्चाई को ही समकालीन कविता अनावृत कर रही है।

समलैंगिकता

समलैंगिकता का अर्थ किसी व्यक्ति का समान लिंग के लोगों के प्रति यौन और रोमांसपूर्वक रूप से आकर्षित होना है। वे पुरुष, जो अन्य पुरुषों के प्रति आकर्षित होते हैं उन्हें 'पुरुष समलिंगी या 'गे' और जो महिला किसी अन्य महिला के प्रति आकर्षित होती है उसे महिला समलिंगी या 'लेस्बियन' कहा जाता है। अल्पसंख्यक होने के कारण वर्तमान समाज में इन लोगों के अधिकारों का लगातार ध्वंस हो रहा है। हाल ही माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा इन लोगों के यौन संबंधों को संवैधानिक हक प्राप्त हुआ। फिर भी समाज इन्हें स्वीकार करने में हिचकते हैं।

इसप्रकार के लोगों की तरफ समाज का नज़रिया बहुत ही संकुचित है। इसकी शुरुआत हमारे अपने घरों से होती है। उनके परिवार के सदस्य भी इसे खुद एक बीमारी की तरह महसूस करते हैं या इसे दूर करने के लिए उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं। घर के बाहर, कार्यस्थल पर, स्कूल और कॉलेज में या किसी भी सार्वजनिक जगह पर उन लोगों को बहुत ही घृणा का अनुभव करना पड़ता है। 'वजूद' नामक कविता में समलैंगिक प्रेम का

चित्रण है:-

“सोच रहा था तनहा
 क्या था मुझ में कुछ अनोखा?
 क्या कुदरत ने ऐसा मुझे बनाया?
 या इस समाज ने जताया?
 जब सब ने मुझे ठुकराया,
 तब मैंने खुद को अपनाया
 प्रीतम होकर मैंने
 प्रीतम संग प्रेम निभाया
 पर ना जाने क्यों दुनिया को
 हमारा प्रेम नहीं समझ में आया।
 जब दुनिया ने मुझे मुझसे भरमाया
 तब मैंने अपना ‘वजूद’ अपनाया।”¹

समलैंगिक प्रेम से संबंधित दूसरी एक कविता है ‘हैलो 3771’
 इसमें समलैंगिक व्यक्ति समाज की नफरत के भय से दूर भागना चाहता है
 और प्रेमी के साथ जीवन बिताना चाता है:-

‘मेरे जैसा दोस्त
 जो तुम्हें सही राह दिखाए
 जो प्यार से कभी ना थके
 जो तुम्हें बता सके
 ये प्यार ही तो ज़िन्दगी है
 मेरे दोस्त
 इसमें थकते नहीं

1. www.guylaxy.com

इसमें सिर्फ चलते है
 बहुत तेज़ बहुत दूर-नफरत से।
 नफरत से बहुत दूर
 और बहुत आगे।”¹

समलैंगिक व्यक्तियों की अस्मिता की चिंता समकालीन कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। इन्हें सामाजिक स्वीकृति दिलाना और इनसान की तरह व्यवहार करने का अवसर प्रदान करना इन कविताओं का वास्तविक मकसद है।

निष्कर्ष

इसप्रकार समकालीन हिन्दी कविता अस्मितामूलक चिंतन को महत्वपूर्ण स्थान देती है। अस्मिताबोध से तात्पर्य है अस्तित्व का बोध। आत्मनिर्णय और आत्माभिव्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति का हक है। लेकिन सदियों से स्त्री, दलित, आदिवासी, किन्नर और अन्य अल्पसंख्यक समाज इस अधिकार से वंचित हैं। साहित्य का मूल उद्देश्य सामूहिक अस्मिता को सफल बनाना है। इसकेलिए इन लोगों के जीवन संघर्ष को जानना अत्यंत ज़रूरी है। समकालीन हिन्दी कविता में भी इसी का प्रयास हुआ है। समकालीन कविता स्त्री सौन्दर्य को शरीर की सीमा से बाहर निकालती है। स्वतंत्र और अपने अस्तित्व पर खड़ी स्त्री में एक अलग सौन्दर्य देखती है। दलित, आदिवासी जनता समाज द्वारा उपेक्षित होने के साथ साहित्य में भी उपेक्षित थे।

1. www.gaylaxy magazine.com

समकालीन कविता में इन्हीं की उपस्थिति, इनके द्वारा कही गयी जीवन यथार्थ का चित्रण कर सौन्दर्य बोध का नया आयाम प्रदान करती है। इसीप्रकार अन्य अल्पसंख्यक समाज भी अपनी हैसियत को बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस अस्तिमतामूलक चिंतन का सपना अलग सौन्दर्य बोध है जो सौन्दर्य संबन्धी पुरानी मान्यताओं को चुनौती देती है।



तीसरा अध्याय

समकालीन हिन्दी कविता में
लोकसौन्दर्य

समकालीन हिन्दी कविता में लोकसौन्दर्य

लोक की अवधारणा

मानव पैदा होने से ही लोग सो जुड़ा हुआ रहता है। वह अपनी जीवन रीतियों, परंपराओं, आचरणों और विश्वासों को लोक से ही ग्रहण करती है। इसलिए कह सकते हैं कि मानव के सांस्कृतिक विकास के मूल में लोक ही है। 'लोक' शब्द का अर्थ केवल यह नहीं होता है कि 'मनुष्य' या 'ग्रामीण परिवेश'। बल्कि इसका एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य है। मानव समाज के सांस्कृतिक रूप से विकसित होते समय को पहचानने, उसके परिवेश और उनकी एहसास को ध्वनित करानेवाली एक मूर्त अवधारणा है 'लोक'।

साहित्य और समाज एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। साहित्य, समाज का दर्पण है वह समाज से अछूता नहीं रह सकता। इसलिए साहित्य में मानव के साधारण जीवन का चित्रण होना स्वाभाविक है। साहित्य के द्वारा ही समाज का वास्तविक चित्रण उद्घाटित होता है क्योंकि साहित्य मानवीय संवेदनाओं की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। इन संवेदनाओं के मूल में लोक का धरातल अवश्य मौजूद है। इसलिए हर युग के रचनाकार 'लोक' के महत्व पर रचनाएँ करते थे।

'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोक' (दर्शनः) धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से निर्मित हुआ है। इस धातु का अर्थ है 'देखना।' लट् लकार अन्य पुरुष

एकवचन में इससे 'लोकते' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'देखनेवाला'। अतः 'लोक' शब्द का मूल अर्थ है देखनेवाला। इस प्रकार लोक शब्द का अभिप्राय उस संपूर्ण जन समुदाय से है, जो किसी देश में निवास करता है। वास्तव में लोक शब्द से सामान्य से अतिसामान्य जन और उसका परिवेश ध्वनित होता है।

वेद, उपनिषद, गीता आदि पुराण ग्रन्थों में भी 'लोक' शब्द का उल्लेख है। वहाँ एक 'विराट' अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। हिन्दी साहित्य में भी 'लोक' शब्द अनेक अर्थों को आत्मसात करनेवाला है। आदिकालीन साहित्य 'लोक जीवन' के विभिन्न चित्रों से परिपूर्ण है। खुसरो की पहेलियों में प्रयुक्त 'लोक' शब्द सामान्य जनता, उसकी परंपराओं और विश्वासों को अभिव्यक्त करता है। संत साहित्य में 'लोक' शब्द का प्रयोग सारे संसार के संदर्भ में व्यापक रूप से किया गया है। तुलसी और कबीर की रचनाओं में प्रयुक्त 'लोक' शब्द इसका नमूना है। वे लोक मर्यादा लोक व्यवहार तथा साधारण जनता से संबन्ध रखने के कारण संत कवियों ने 'लोक' शब्द को सामान्य जन के लिए प्रयुक्त किया। इसके अतिरिक्त सूरदास के पदों में भी 'लोक' शब्द प्रयुक्त होते थे। वहाँ उसका अर्थ ग्रामीण एवं स्थानीय परिदृश्य को द्योतित करता है। रीतिकालीन कवियों ने प्रेम और श्रृंगार की गहन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में लोक की महत्ता को स्वीकार किया है। यहाँ भी लोक शब्द सामान्य जन समूह को ध्वनित करता है।

आधुनिक साहित्य में भी 'लोक शब्द' को व्यापक अर्थ मिला। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने 'चिन्तामणी' निबन्ध संग्रह में 'लोकमान्य, लोक व्यवहार, लोक धर्म, लोक मंगल जैसे कुछ शब्दों का प्रयोग करके उसे भारतीय संस्कृति और समाज के साथ जोड़ने का प्रयास किया। आधुनिक युग में लोक शब्द के लिए नवीन परिभाषाएँ देकर उसे विस्तृत आयाम में या संप्रेषक के रूप में प्रयुक्त किया। इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'लोक' शब्द उस परिष्कृत समाज से भिन्न साधारण से साधारण आदमी और उससे जुड़े परिवेश को द्योतित करता है।

वर्तमान युग में 'लोक' शब्द का प्रयोग केवल ग्रामीण अनपढ़ और अशिक्षित समाज का द्योतक नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के मानव के विविध कलाओं, परंपराओं, रीति-रिवाजों, विचारों और संस्कारों को अभिव्यक्त करनेवाला है। इसका मतलब यह है कि अपने संकुचित अर्थ में 'लोक' साधारण जन अथवा लोक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है लेकिन विस्तृत अर्थ में वह समस्त मानव जाति की अनुभूतियों को आत्मसात करते हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी 'लोक' शब्द पर अपनी राय व्यक्त करते हुए कहते हैं कि :- "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि संपन्न तथा सुस्कृत समझे जानेवाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यत होते हैं और परिष्कृत रुचिवाले लोगों की समूची विलासिता

और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।”¹ इसलिए हम कह सकते हैं कि आज लोक धरातल पर संपूर्ण मानव, उनकी आशा-निराशा, प्रेम, घृणा सभी एक समान हैं। इसलिए साहित्य में लोक अपने सर्वांगीण रूप में विद्यमान है।

विज्ञान और तकनीकी के इस युग में ‘लोक चेतना’ नष्ट होती जा रही है। औद्योगीकरण की मशीनीकरण ने मनुष्य को यन्त्र बदल डाला। इसलिए लोक चेतना उससे दूर होती जा रही है। सब पर यांत्रिकता की कृत्रिम संस्कृति कायम है। नवउपनिवेशवाद, बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद और भूमंडलीकरण के इस दौर में ‘लोक चेतना’ को सुरक्षित रखना अनिवार्य बन गया है। इसलिए समकालीन कवि अपनी कविताओं में इस कृत्रिम और यांत्रिक दुनिया में ‘लोक सौन्दर्य’ के महत्व को प्रतिपादित करते हैं। लोक एवं स्थानीय धरातल के विविधमुखी प्रसंगों का चित्रण करके नवीन सौन्दर्यशास्त्र का गठन कर रहे हैं।

ग्रामीण जीवन

गाँव या ग्रामीण परिवेश भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के विचार में ‘भारत की आत्मा गाँवों में रहती है। देश की आधी आबादी से ज़्यादा लोग गाँवों में निवास करते हैं अतः भारत का अस्तित्व गाँवों पर निर्भर है। साथ ही गाँव भारतीय अर्थव्यवस्था का

1. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - जनपद, वर्ष अंक 1, पृ. 65

मेरुदंड है। मनुष्य ने अपनी शुरुआती जीवन जंगलों एवं गुफाओं में बिताया है। धीरे-धीरे उसने एक जुट होकर रहना सीखा। तब से गाँव अस्तित्व में आया। गाँवों से सभ्यता की चिन्ता उत्पन्न हुई। बाद में गाँवों ने ही नगरों की शक्ल ली। ऐसा कहा जाता है कि भगवान ने गाँव को बनाया। यह इसलिए होगा कि गाँवों में प्रकृति का सौन्दर्य बिखर पड़ा है। खेती की हरियाली, कल कल करती नदियाँ, गाय के पीछे दौड़ते बच्चे, पेड़ों से आम तोड़कर खट्टे आम खाते लडके, मक्की की रोटी, दुध, दही, मक्खन, घी आदि सब गाँव की बात करते समय कल्पना में आते हैं।

ग्रामीण लोगों की जीवन रीति नगरों में रहनेवाले लोगों से बिलकुल भिन्न है। भारत के गाँव उन्नत और समृद्ध थे। ग्रामीण लोग कृषि पर आश्रित जीवन बिता रहे थे, वे उसमें गर्व महसूस करते थे और संतुष्ट भी थे। गाँवों में कुटीर उद्योग फलते फूलते थे। लोग सुख एवं शांति के साथ गाँवों में रहते थे। भारत के गाँवों में स्वर्ग बसता था। लेकिन समय बीतने के साथ नगरों का विकास होता गया और गाँव पिछड़ते गये। शहरीकरण के कारण गाँव लुप्त होते जा रहे हैं। समकालीन हिन्दी कविता में गाँव के प्रति गहरी आस्था स्पष्ट रूप में विद्यमान है। गाँवों का चित्रण प्राचीन काल से लेकर कविता का विषय रहा था। गाँव के स्वच्छंद वातावरण में मुग्ध होकर उसके प्रति असीम प्रेम भावना कवि दिखाते थे। समकालीन कविता नष्ट होती ग्रामीण संस्कृति के प्रति कवि की गहरी वेदना को प्रकट करती हैं। गाँव के नष्ट होने का

मतलब भारत की आत्मा का विलुप्त होना है। इसलिए इसे सुरक्षित रखना असल में समय की माँग ही है।

गाँव की अपनी एक विशेष संस्कृति होती है। सामूहिकता, सहभागिता और ऊँचा नैतिकता बोध ग्रामीण संस्कृति की ही विशेषता है। शहर के जैसे स्वार्थ एवं मुनाफा के लिए यहाँ कम स्थान है। विकास के इस दौर में मानव मन में गाँव के प्रति उपेक्षा की भावना होती है। यह मानवीयता नष्ट होने की सूचना देती है। गाँव उजड़ता रहा। उजड़ते गाँव के बारे में विवेकी राय का कथन है:- “मेरे भीतर गाँव, सच पूछे तो एक गंभीर पीडा की भाँति स्थित है। खैर इस पीडा के कुरेदे जाने में भी एक आनंद है।”¹ समकालीन कविता गाँव की जीवनानुभूतियों से जुड़ी हुई रहती है। कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह ने ‘गाँव खड़े हो रहे हैं’ कविता में बताया है:-

“कविता, गाँवों के कंठ से फूट रहा नदियों का गीत है
सुनो ए गाँव कविता को जिलाये रखने के लिए
पलाश वन की भाषा में नदियों का गति गा रहे हैं।”²

गाँव का सौन्दर्य और जीवन्तता अब पूरी तरह नष्ट हो चुकी है। गाँव में अब खुले मैदान नहीं है, सामूहिक श्रम के लिए लोग इकट्ठे नहीं होते हैं। सामूहिक गीत और संगीत की लय अब वातावरण में नहीं गूँजते। गाँव में अब पुराने घरों के स्थान पर कंक्रीट का मकान दिख रहा है। ज्ञानेन्द्रपति

1. कथादेश - मई 2012, पृ. 42

2. कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह - पत्थरों का गीत, पृ. 25

ने 'मिट गए मैदानोंवाला गाँव' में गाँव के बदले हुए स्वरूप को इसप्रकार दिखाया है:-

“मिट गए मैदानोंवाला गाँव
 कस्बे की पान-रेगी मुस्कान मुस्कुराता
 जै राम जी की कहना है
 डूबती तरैयाँ और डूबती बिरियाँ निकलता था जो देश मैदान
 के लिए
 और अब जिसकी किसी भी दिशा में मैदान नहीं
 गाँव ने मैदान मार लिया है।
 शहर बनने की राह में
 अपना मैदान मार दिया है।”¹

नयी पीढ़ी के बच्चे ग्रामीण इलाके से बिलकुल अपरिचित है। उनके लिए गाँव एक सपना है। उनके मन में गाँव कहानी और कविता में चित्रित एक सुन्दर कल्पना मात्र है। कुमार कृष्ण की 'गाँव कहाँ है?' में कवि ने गाँव के बारे में पूछनेवाले बच्चे का चित्रण किया है। बच्चे, बापू से पूछते हैं कि गाँव कहाँ है? तब उड़ रही पक्षी की चोंच के दाने की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि 'यही है गाँव।' शहर में अब गाँव को सूचित करने के लिए केवल यही दृश्य बचा हुआ है:-

“पहली बार/बच्चे ने शहर आकर पूछा
 गाँव किधर है बापू?
 मैंने सामने उड़ते पक्षी की ओर इशारा किया

1. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ. 47

वह देखो
पक्षी की चोंच के दाने में उजड़ रहा है गाँव।”¹

गाँव हमेशा मानव को एक सुखद अनुभूति प्रदान करता है। शहर की ऊष्मा से बचकर गाँव की शीतल छाया में आरामपूर्ण जीवन जीने की इच्छा आज प्रबल होती जा रही है। भूमंडलीकरण के इस दौर में ‘गाँव’, ‘विश्वग्राम’ की संकल्पना में तब्दील होता जा रहा है। ‘विश्वग्राम’ संवेदना पर नहीं, बाज़ारवाद पर खड़ा है जिसमें गाँव की अस्मिता खतरे में है। रामदरश मिश्र ने अपनी कविता में ‘गाँव’ और ‘विश्वग्राम’ की फर्क को इसप्रकार व्यक्त किया है:-

“धीरे-धीरे भेद खुलता गया कि
विश्वग्राम का मोहक महल
ग्राम संवेदना पर नहीं, बाज़ारवाद पर खड़ा है
मैं मानता हूँ कि
गाँव और बाज़ार का बड़ा आत्मीय संबंध रहा है।”²

नष्ट होती ग्रामीण संस्कृति पर समकालीन कवियों ने अपनी आशंका एवं दुःख को भारी मात्रा में प्रकट किया है। सूरजपाल चौहान की पंक्तियाँ हैं:-

“दारु की बोतल के भीतर
जिसकी भर-भर रोता गाँव
फटे पुराने चिथड़ों जैसा

-
1. कुमार कृष्ण - गाँव का बीजगणित, पृ. 17
 2. समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई - अगस्त 2011, पृ. 93

सूखे तने पर लिपट गाँव।
मेरा गाँव, कैसा गाँव
न कहीं ठौर, न कहीं ठाँव।”¹

समकालीन कवि गाँव के प्रति गहरी आत्मीयता रखती है। ग्रामीण परिदृश्य में पगडंडियों का अपना विशेष महत्व है। जब कहीं पंगडंडियों नज़र आता है तब कवि गाँव की उस विशालता को महसूस करते हैं। कवि के मन में गाँव की स्मृतियों इस बुरे माहौल में भी सक्रिय है। वे उसे हमेशा केलिए बचाकर रखना चाहते हैं। अलोकधन्वा गाँव की पगडंडियों का चित्रण यों खींचते हैं:-

“वहाँ घने पेड हैं
उनमें पगडंडियाँ
ज़रा आगे ढलान शुरु होती है
जो उतरती है नदी के किनारे तक”₂

प्राकृतिक सौन्दर्य से समृद्ध थे गाँव। लेकिन बढ़ते शहरीकरण का दुष्प्रभाव ने इसे प्रदूषित कर दिया है। फिर भी शहर की तुलना में गाँव प्रदूषण की भीषणता से एक सीमा तक रहित है। इसलिए सब आज गाँवों के ‘रिसोर्ट’ संस्कृति के प्रभाव में है। इसने गाँव की स्वच्छता को मलिन करना शुरु किया है।

1. गंगाजल - अप्रैल - जून, 2009, पृ. 40
2. आलोक धन्वा - दुनिया रोज़ों बनती है, पृ. 83

आधुनिक युग में आकर गाँव के लोग शहरों के प्रभाव में आ गए हैं। आजीविका की तलाश में वे शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। लेकिन शहर की विषमताएँ झेलने पर वह गाँव का समर्थन करना शुरू करता है। साथ ही गाँव के प्रति लगाव रखना चाहते हैं। हरिनारायण व्यास महानगर में जाने के बाद गाँव का परिवेश याद करते हुए कहते हैं:-

“मन डोलता है
ज़मीन की याद में।”¹

शहर में जीवन यापन करते हुए भी उनका मन हमेशा गाँव से जुड़े रहते हैं। कवि श्याम सिंह की कविता में गाँव के प्रति आकर्षण को व्यक्त करती है:-

“मैं उस सहज मिट्टी पर निर्द्वन्द चलकर
अपने गाँव पहुँचूँगा
अब मुझे जल्दी ही पहुँचना
अपने गाँव।”²

शहर के लोग उनकी सभ्यता को ग्रामीण जनता पर थोपने का प्रयास कर रहे हैं। उनकी दृष्टि में गाँव की जनता अशिक्षित है। इसलिए उनकी संस्कृति को भी वे हीन दृष्टि से देखते हैं। असल में गाँव के लोग बहुत ही मासूम हैं। लेकिन शहर के ‘सभ्य’ लोगों के लिए वे सिर्फ ‘गँवारु’ हैं। इसलिए जब कभी शहर के लोग गाँव में आते हैं, तो वे इन लोगों को

-
1. हरिनारायण व्यास - पहगद के चिकने पते, पृ 60
 2. श्याम सिंह - ठाई घाकर, पृ. 15

‘सभ्यता’ का पाठ सिखाते हैं। ‘मेरा गाँव भी सीख जाएगा’ कविता में विनय दुबे इसी बात को बताते हैं:-

“मेरे गाँव में भी अब/पहुँचने लगे हैं अफ़सर
 और रहने लगे हैं
 मेरा गाँव भी अब सीख जाएगा/ किसी से बोलना
 न बोलना किसी से/किसी को देखकर न देखना
 देखने के लिए बुलाना
 मेरा गाँव भी अब सीख जाएगा
 चिट भेजना, खिलना-पिलाना
 रिरियाना, घिघियाना
 बोलना अर्जी की भाषा में।”¹

उपनिवेशी शक्तियाँ ग्रामीण संस्कृति को तोड़ मरोडना चाहती हैं। क्योंकि भारत देश की रीढ़ है गाँव। इसलिए व्यक्ति को जडविहीन करने का एक मार्ग है उसकी ग्रामीण संस्कृति का विनाश करना। ‘सांस्कृतिक उपनिवेशवाद’ आज की मुख्य मुद्दा भी है। गाँवों को कांक्रीट के जंगल में परिणित करते औपनिवेशिक कूटतन्त्र की ओर इशारा करते हुए जनार्दन मिश्र कहते हैं कि:-

“ऐसे में बेबस दिखने लगे हैं गाँव
 भूमि सिसक रही है, पहाड चटक रहे हैं
 पेड कट रहे हैं, नदियाँ सूख रही हैं, बाग उजड रहे हैं

1. www.kavita.kosh.com

और कोई लूटेर उन गाँवों को सीमेंट-कंक्रीट में तब्दील करने की
ठान रहा है
कि यहाँ की धरती हाइटेक का।”¹

जिन लोगों के पास गाँव जीवन का सुखद अनुभव है, उसके लिए
शहर की संस्कृति अपनाना काफी मुश्किल है। शहर के उदासी में गाँव की
स्मृतियाँ ही उसे जीवन्त बनाते हैं। एकान्त श्रीवास्तव की अधिकांश कविताएँ
मिट्टी से जुड़ती हैं। गाँव से बिछुड़ने पर भी वहाँ की मिट्टी की गन्ध,
पक्षियों की आवाज़ आदि उनकी सपने में आती है:-

“वापसी के बाद भी
दिनों तक सपनों में पकता रहा
धान का एक खेत
दिनों तक सुनाई देती रही
नींद में एक पक्षी की आवाज़।”²

आज बहुराष्ट्रीय कंपनियों की दृष्टि गाँव पर पड़ी हुई है। गाँव के
प्रत्येक चीज़ को वे उपयोगितावादी दृष्टि से देखते हैं। वे उनके ज़मीन को
छीन रहे हैं। जिससे गाँववासी अपनेपन से दूर होता जा रहा है। उन्हें महसूस
होते हैं कि वे किसी के अधीन में हैं। आज उनका अपना गाँव कहीं ‘ग्लोबल
गाँव’ बन गया है। हरे प्रकाश उपाध्याय की ‘गाँव’ नामक कविता की पंक्तियों
हैं:-

1. समकालीन भारतीय साहित्य - मार्च-अप्रैल 2013, पृ. 104
2. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक, पृ. 35

“गाँव के इस दौर में
 मेरेलिए सबसे दुखद खबर है
 जिस गाँव में सोहर, संझा, पराती के गीत गूँजते थे
 उस मेरे गाँव में
 सियार बोल रहे हैं दिन भर
 भालू, रीछ डुकर रहे हैं
 उग रही है आग की फसल
 चार-दाना और झोपडियों की ज़मीन पर
 कौन है? कौन है, नहीं पता
 पर कोई है जो मेरे कौर छीन रहा है
 जो लगातार हाँक रहा है मेरे ठौर से
 और मेरे गाँव को छितरा रहे हैं।”¹

संक्षेप में कह सकते हैं कि आज हमारे देश से गाँव गायब होते जा रहे हैं। लोक जीवन की आत्मा इन गाँवों में बसती हैं। समकालीन कवि गाँव की धडकन को अभिव्यक्त करने में सफल निकले हुए हैं। वे नष्ट होते ग्रामीण परिवेश का पुनर्गठन अपनी रचनाओं के द्वारा करते हैं। संस्कृतिहीनता का पाठ सिखानेवालों के आगे यह कवि का जीवन्त प्रतिरोध है।

महानगरीय जीवन

सुख-सुविधाओं के लिए मनुष्य का आकर्षण केन्द्र होता है, महानगर। ग्रामीण इलाकों से लोग शिक्षा, रोज़गार एवं अन्य अवसरों की खोज में शहर की ओर पलायन करते हैं। वर्तमान समय में गाँव से शहर की ओर जानेवाले

1. हरे प्रकाश उपाध्याय - खिलाडी दोस्त तथा अन्य कविताएँ, पृ. 95

लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। महानगरों की भौतिक सुख-सुविधाओं की तरह आकर्षण और नौकरी की तलाश इस पलायन के मूल कारण हैं। औद्योगिककरण ने शहर को जन्म दिया। उसने शहरों की ओर जनता की दृष्टि को खींच डाला है। अब देश की आबादी का बड़े हिस्से के लोग शहरों में रहते हैं। बढ़ती आबादी के कारण महानगर में संसाधनों की उपलब्धि नहीं होती है जिससे लोगों को कई प्रकार की विषमताओं को झेलना पड़ रहा है। इन विषमताओं के कारण शहरी जीवन दूषित बन गया है।

महानगर में लोग अपने-अपने कार्य में व्यस्त होता है। जहाँ लोगों के बीच प्रतिस्पर्धा का भाव होता है जिससे संबंधों में विघटन उत्पन्न हो जाता है। महानगरीय परिवेश में मानव मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। लोगों से प्रेम, भाईचारा, सद्भाव, सहानुभूति दया, ममता आदि भाव दूर होते जा रहे हैं। जिसके परिणाम स्वरूप महानगरों में अमानवीय प्रवृत्तियों में वृद्धि हो रही है।

महानगर में लोग कृत्रिम और यांत्रिक जीवन बिता रहे हैं। शहरों में रहनेवालों लोगों की संख्या तो बढ़ती जा रही है। इसके साथ वे संबंध विहीन होते जा रहे हैं। भीड़ में रहकर भी अकेलापन महसूस कर रहे हैं। बंद कमरे में बिजली के प्रकाश में रहनेवाले नगर के लोग जब दरवाज़ा खोलकर बाहर आते हैं तो कृत्रिमता की खाल ओढ़कर निकले हैं। कवि का कथन है:-

“शहर के मौसम के हिसाब से
बदलते गए हैं उनके चेहरे

कम खाते, कम सोते, कम बोलते
लगातार अपने पते बदलते।”¹

शहरीय वातावरण मानव को संवेदनशून्य बनाता है। जीवन की भागमभाग में किसी के पास इतना समय ही नहीं होता कि दूसरों के सुख-दुःख में साथ निभाए। सभी अपने अपने दायरों में सिमट कर रह गए हैं। महानगरीय जीवन लोगों को अपने सुख या दुःख में तटस्थ रहने का पाठ सिखाता है। ‘किसका शव’ नामक कविता में उदय प्रकाश कहते हैं कि

“खासियत है दिल्ली की
कि यहाँ कपड़ों के भी सुखने से पहले
सूख जाते हैं आँसू।”²

आधुनिकता, औद्योगीकरण और स्वार्थ की अंधी दौड़ में हमारे अंदर से, हमारे परिवार और समाज से मानवीय संवेदनाएँ लुप्त होती जा रही हैं। लोगों के बीच अत्मीयता का भाव नष्ट हो गया है। संवेदनशून्यता मानव मन में स्वार्थता पैदा करती है। जिस मनुष्य में जितना अधिक संवेदना होती है, वह अपने परिवार और समाज से उतना ही जुड़ा होता है। इस संवेदना के अभाव के कारण ही व्यक्ति को पड़ोसी का दुःख, केवल पड़ोसी का लगते हैं। यह भावना महानगरीय लोगों में ज़्यादा विद्यमान है। आगे बढ़ने की तीव्र इच्छा के कारण आज पारिवारिक संबन्धों में भी खाइयाँ बढ़ती जा रही हैं। नगर के लोग ऐसे लोगों को प्रतिष्ठित मानते हैं जो बाहर से देखने में अत्यंत

1. मंगलेश डबराल - हम जो देखते हैं, पृ. 16
2. उदय प्रकाश - कवि ने कहा, पृ. 108

विनम्र होते हैं और अति धार्मिक होते हैं। कुमार अंबुज 'नागरिक पराभव' नामक कविता के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि ऐसे लोगों से वे डरते हैं। उनके लिए पडोसी का दुःख केवल पडोसी का दुःख है। अपने पिता के प्रति भी उन लोगों के मन में कोई आत्मीयता, स्नेह नहीं है। समाज में जो कुछ घटित हो, उसके प्रति वे ज़रा भी चिंतित नहीं हैं:-

“अब मैं एक छोटी सी समस्या को भी
 एक बहुत डरे हुए नागरिक की तरह देखता हूँ
 सबको ठीक करना मेरा काम नहीं सोचते हुए
 एक चुप नागरिक की तरह हर गलत काम में शरीक होता हूँ
 अपने से छोटों को देखता हूँ दिकारत से
 डिप्टी कलेक्टरों को आता देख कुर्सी से खडा हो जाता हूँ
 पडोसी के दुःख को मानता हूँ पडोस का दुःख
 और एक दिन पिता बीमार होते हैं तो सोचता हूँ
 अब पिता की उमर हो गई है।”¹

हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि मानव के अंतर्मन में क्या क्या चल रहे हैं उसे वह पहचान नहीं पाता हैं। हमारा मित्र कौन है? हमारा शत्रु कौन है? यह ठीक से पहचान नहीं पाते। नगर में सभी लोग मुखौटा पहनकर चलते हैं। बाहर से मित्रवत् व्यवहार करते हैं लेकिन भीतर से हमारा शोषण तो चाहते हैं। उस भीषणता का चित्र कुमार अंबुज के विचार में:-

1. कुमार अंबुज - क्रूरता, पृ. 12

“मगर ठीक-ठीक समझ नहीं आता किससे डरे और किससे बचें

हर आदमी डरा हुआ है इसलिए हर आदमी से खतरा है
सबसे ज़्यादा भयावह है कि कोई स्वीकार नहीं करता अपना डर
मैं डरता हूँ कि एक डरे हुए निडर समाज में रहता हूँ
जहाँ नहीं पहचान सकता अपने मित्रों को अपने शत्रुओं को
बस, देखता हूँ सबके अंदर एक डर है
जो डराता है लगातार।”¹

महानगरों में बढ़ती अजनबीपन और अकेलापन देखकर कवि कहते हैं कि :-

“शहर में कोई नहीं होता
जो हमें पहचानकर
लपककर
आए हमारा नाम पुकारता हुआ।”²

लेग महानगर की भौतिक सुख सुविधाओं के प्रति आकर्षित होते हैं और यहाँ आकर एक उज्वल भविष्य के निर्माण की सपना देखकर कठिन मेहनत करते हैं। इस दौड़ के बीच वे अपनी ज़िन्दगी को खो देते हैं। परिवार से, सखे-संबन्धों से अलग होकर शहरों में बसते हैं। सुंदर भविष्य के निर्माण की सोच में वर्तमान में पूरी तरह जी नहीं सकते हैं। वीरेन्द्र सक्सेना ने अपनी कविता में इस सच्चाई को चित्रित किया है:-

-
1. कुमार अंबुज - क्रूरता, पृ. 14
 2. राजेश जोशी - चाँद की बर्तनी, पृ. 13

“बंध-बांधवों, मित्रों और
 चाहने वालों से दूर
 इस मायावी महानगरी में
 झेल रहा हूँ अकेलापन
 कौन से स्वर्णिम भविष्य
 के लिए?
 मुझे नहीं चाहिए ऐसा भविष्य
 जिसके कारण
 वर्तमान को भी पूरी तरह
 जी पाने का अधिकार
 छिन जाए।”¹

गाँव से शहर की ओर पलायन करते लोग वापस गाँव में आते नहीं है। यह इसलिए है कि अनेक विषमताओं के बावजूद भी महानगरों में सारी भौतिक सुख सुविधाएँ उपलब्ध हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, खेलकूद और मनोरंजन आदि क्षेत्रों में सारी सुविधाएँ यहाँ मिलती हैं। गाँव सिकुडते जा रहे हैं और शहरीकरण बढ़ता जा रहा है। मंगलेश डबराल ने इसका अंकन यों किया है:-

“मैंने शहर को देखा और मैं मुस्कुराया
 वहाँ कोई कैसे रह सकता है
 यह जानने मैं गया
 और वापस न आया।”²

-
1. वीरेन्द्र सक्सेना - ठोस होते हुए, पृ. 118
 2. मंगलेश डबराल - कवि ने कहा, पृ. 14

महानगरों में लोग बड़ी बड़ी इमारतों में या फ्लैट्स में रहते हैं। यहाँ रहते हुए उनकी सारी संवेदनाएँ भी 'फ्लैट' हो जाता है। एक दूसरे से 'अपार्ट' होकर रहने के लिए 'अपार्टमेंट्स' बन रहे हैं। शहर के लोगों की एक विशेषता यह भी है वे एक जगह पर ज़्यादा समय रहते नहीं हैं। वह हमेशा अपना पता बदलता रहता है। इसी में वे अपनी प्रगति मानती हैं। अपनी अस्तित्व, पहचान और अपना पता खोते हुए आदमी अपनी ही मिट्टी से उखड़कर जी रहा है। 'हाट' नामक कविता में अरुण कमल कहते हैं:-

“लेकिन वहाँ जहाँ मेरा घर नहीं था
 अट्टालिका थी लोह कपाट और द्वारपाल
 यहाँ मेरा घर था मेरे पिता मेरी माँ
 मेरा घर
 द्वारपाल हँसे-
 तुम किस जन्म की बात कर रहे हो।”¹

शहरी लोगों में एक अनिश्चितता का डर व्याप्त है। यहाँ मानवीयता का अंत हुआ है। दिन-प्रतिदिन किसी न किसी प्रकार की अमानवीय वृत्ति होती रहती है। इसलिए उनके मन में हमेशा कुछ भयावह होने की आशंका बनी हुई रहती है। यह उनको भयभीत करते हैं। शहर क्रूरता का पर्याय बन गया। यहाँ दूसरों के प्रति प्रतिबद्धता या हमदर्दी की भावना नहीं के बराबर है:-

1. अरुण कमल - नये इलाके में, पृ. 20

“गला काटते वकील, पेट काटते सर्जन
 भेड़ियों जैसे दलाल, बकरियों जैसी मुलायम लड़कियाँ
 भालू जैसे ठेकेदार, गैंडे जैसे व्यापारी
 तपेदिक से बीमार बूढ़ा कलाकार
 हडताल, नारेबाज़ी और बजीरों की कोठियाँ
 नरभक्षी चीते की माँद
 उस शहर में सडकों और दरिन्दों के सिवा
 और कुछ था ही नहीं।”¹

महानगरों में लोग एक यंत्रवत् जीवन जी रहे हैं। हमारे देश भी इस महानगरीय सभ्यता की पकड़ में है। ‘दिल्ली’, ‘मुंबई’, ‘बैंगलूर’, ‘चैन्नै’, ‘कोलकोत्ता’ आदि भारत के महानगर हैं। ब्रजेश त्रिपाठी दिल्ली की निर्ममता को इसप्रकार व्यक्त करते हैं:-

“बड़ी निर्मम है
 दिल्ली
 यह पहले आपको
 आपकी जड़ों से
 काटती है
 छीन लेती है गाँव घर
 माँ-बाप, भाई-बहन
 रिश्ते नाते, मोह छोड

1. रवीन्द्रनाथ त्यागी - सलीब से नाव तक, पृ. 77

दया माया सच्चाई ईमान
दिल्ली
आपको आदमी नहीं रहने देती
बना देती है मशीन।”¹

मनुष्यता संवेदना से पहचानी जाती है। संवेदना मनुष्य को संबंधों में बाँधती है। मनुष्य संबंधहीन रहकर भलि-भाँति जी नहीं सकते। लेकिन समय कुछ ऐसा बदल रहा है कि जहाँ मानव मानव के बीच का आत्मीय संबन्ध टूटने लगा है। मनुष्य अपने में सीमित हो गया है। ‘हम भी’ नामक कविता में नीलेश रघुवंशी दिल्ली महानगर में घटित घटना का चित्रण करती है। वहाँ बीच सडक पर एक आदमी उल्टियाँ करता है। उनके आसपास कोई नहीं है। वह आदमी इतने बड़े शहर में अकेला रह गया है। अनेक लोग उस आदमी के पास से गुज़रते हैं, लेकिन किसी ने भी उसका ध्यान नहीं दिया। कविता की अंतिम पंक्तियों में कवयित्री ऐसी सोचती है कि अगर उस आदमी के स्थान पर, अपना कोई होता तो क्या इस तरह उन्हें छोड़ देगा?

“बीच सडक पर एक आदमी करता है उल्टियाँ
कोई नहीं आसपास, अकेला आदमी इतने बड़े शहर में
उल्टियाँ करता, हाँफता अकेला आदमी
.....
जाने क्यों रह-रहकर याद आता है-अकेला आदमी

1. ब्रजेश त्रिपाठी - तलाश, पृ. 86

अगर उसका कोई अपना होता उस समय
तो क्या इस तरह छोड़ देता उसे अकेला
हो सकते थे उसकी जगह हम भी, हमारा अपना प्रिय कोई बहुत
ही प्रिय
एक ओर उल्टी करता, हाँफता अकेला आदमी
दूसरी ओर, ढेर सारे चेहरे मुँह फेरते हुए
उन अनगिनत चेहरों में, एक चेहरा मेरा भी।”¹

शहर में व्यक्ति अजनबीपन महसूस करता है। दीर्घकाल तक शहर में रहने पर भी उसके साथ आत्मीय संबन्ध नहीं रख सकते हैं। इस जनजीपन को व्यक्त करते हुए कवि कहते हैं:-

“आधी रात के बाद कभी-कभी
जो अकसर चौराहों पर चक्कर खाते हुए दिख जाते हैं
जो अपने किसी ठिकाने पर नहीं पहुँच पाते
लंबे समय से यहाँ रहते हुए भी वे पहली बार आये हुए लगते हैं
और रोज़ अजनबियों की तरह प्रकट होते हैं
रात में उन्हीं का है यह चमचमाता शहर।”²

इसप्रकार समकालीन कवि महामगरीय जीवन की पीड़ा, अकेलापन, संत्रास और नैराश्य को कविताओं में प्रस्तुत करते हैं। ‘नगर’ बाहर से दिखाने में सुंदर लगते हैं लेकिन अंदर ही अंदर इसका कोई सौन्दर्य नहीं।

-
1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ. 51
 2. मंगलेश डबराल - नये युग में शत्रु, पृ. 62

शहरी जीवन की यांत्रिकता को, बनावटी आचरण का चित्र खींचते हुए कवि ग्रामीण सौन्दर्य के प्रति लोगों के आकर्षक को बढ़ाना चाहते हैं। उतना ही नहीं शहरी ज़िन्दगी का यथार्थ, बिखरे हुए जीवन मूल्य आदि की वास्तविकता को अनावृत करते हुए जीवन संबन्धी नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न करना कवि का लक्ष्य है।

स्थानीयता बोध

समकालीन कविता के सौन्दर्य बोध का मज़बूत दृष्टान्त है उसकी स्थानीय अस्मिता। वैश्वीकरण के इस युग में समकालीन कवि स्थानीय अस्मिता पर गंभीर रूप से सोचते हैं। इसलिए समकालीन कविता की पृष्ठभूमि स्थानीय वातावरण से भी परिपुष्ट है। स्थानीयता के रंग एवं रूपों से संपन्न समकालीन कविता, आदमी को ज़मीन की ओर लौटने का संकेत देती है। समकालीन कवि एक ओर स्थानीय इलाकों की विशेषता को चित्रित करते उसके प्रति विशेष लगाव दिखाते हैं तो दूसरी ओर जनता के, लोक जीवन की वास्तविकता को भी पेश करते हैं। आलोचक चन्द्रशेखर के अनुसार - “नवें दशक के कुछ कवियों ने अपने को आंचलिक, स्थानीय अथवा नजपदीय भूगोल एवं लोक संवेदना से संपृक्त किया है। यह ग्रामीण जीवन का लोक था। ... यह वह लोक था जहाँ प्रकृति और मनुष्येतर प्राणियों का भी सान्निध्य प्राप्त था। इस लोक में खेती-किसानी की बातें थी। फूल ही नहीं उसकी कई किस्में थी - अलग-अलग नामों से। स्थानीय ताल-

पोखरे, नदियाँ थी और पहाड।”¹

कुमार अंबुज ने ‘अपने शहर लौटते लोग’ नामक कविता में अपनी नष्ट लॉटना चाहते हैं और अपनी जीवन को पुरानी गंध से भरना चाहते हैं:-

“दरअसल वे लौटना चाहते हैं अपने पुराने जीवन में
 ढूँढना चाहते हैं पुराने चेहरे पुराने चौराहे
 खोजना चाहते हैं पच्चीस साल पुरानी गंध
 जो अभी भी उनके नथुनों में बाकी है और महकती है
 ढूँढना चाहते हैं वे मैदान वे जगहें जहाँ से दीखता था पूरा
 आसमान
 मगर पाते हैं अब वह सब कुछ गुज़र चुका है
 जैसे गुप्त काल जैसे कुषाण वंश जैसे मोहनजदडो।”²

शहरीय संस्कृति से उत्पन्न ऊब के कारण मनुष्य किसी भी परिस्थिति में अपनी स्थानीय अस्मिता को छोड़ना नहीं पाते। शहर या महानगर की जैसी सुख सुविधाएँ इन इलाकों में न होने पर भी गाँव उनके लिए एक सुखद अनुभूति है। प्रकृति की गोद में वे अपने को सुरक्षित महसूस करते हैं। विनय दुबे अपनी कविता के माध्यम से यह कहते हैं कि - दिल्ली के बारे में सोचना भी नहीं चाहते हैं, रूखी-सूखी तो हूँ फिर भी भोपाल में रहना पसंद करता हूँ। ‘दिल्ली होने से तो अच्छा है’ नामक कविता की पंक्तियाँ है:-

“मैं पहाड देखता हूँ/तो पहाड हो जाता हूँ
 पेड देखता हूँ / तो पेड हो जाता हूँ

-
1. वागर्थ - दिसंबर 2012, पृ. 51-52
 2. कुमार अंबुज - क्रूरता, पृ. 87

नदी देखता हूँ / तो नदी हो जाता हूँ
 आकाश देखता हूँ / तो आकाश हो जाता हूँ
 दिल्ली की तरफ तो मैं / भूलकर भी नहीं देखता हूँ
 यहीं भोपाल में पडा रहूँ।”¹

समकालीन कवि के लिए माटी इतनी प्रिय है कि वह उसमें मुग्ध हो जाता है। वे माटी को अपनी आत्मा का अंश ही समझते हैं। माटी की महिमा के बारे में प्रयाग शुक्ल की पंक्तियाँ:-

“माटी की ही महिमा है
 कि उर्वर है
 आत्मा का प्रदेश
 यह लाज-लिहाज
 माटी की ही देने है
 आ रही जो सोंधी खुशबू
 हमारी ही पूर्वज गंध
 अपनी माटी में रमा/भरा हूँ केवल
 ममत्व से।”²

इस प्रकार स्थानीयता के प्रति विशेष आग्रह समकालीन कविता में विद्यमान है। मिट्टी की गन्ध, स्थानीय जीवन शैली एवं रीति-रिवाज कवि के मन में मोह उत्पन्न करते हैं। वह इसे अपनी संस्कृति और संस्कारों का अभिन्न हिस्सा मानता है। ममता किरण की 'माटी' नामक कविता में इसी की ओर संकेत है:-

-
1. विनय दुबे - भीड भवसागर में, पृ. 22
 2. प्रयाग शुक्ल - कुछ आकाश, पृ. 37

“मन कहता है
मेरे देश की माटी में
बसी हैं वो गन्ध, रंग और स्वाद
जो मुझे जोड़ते हैं अपने देश से
गंध मेरी जन्मभूमि की
रंग अपने विस्तार के, अनुभूतियों के, परंपराओं के
रिश्तों को, त्योहारों के मेलों के
स्वाद अपनी संस्कृति और संस्कारों के।”¹

समकालीन कविता, स्थानीय सौन्दर्य से ओतप्रोत है। आज की वैश्विक परिस्थिति में रहकर कवि अपनी जन्मभूमि को, प्राकृतिक सौन्दर्य को, स्थानीय विशेष को, संस्कृति को, आचार विचारों को सुरक्षित रखना चाहते हैं। इसके माध्यम से स्थानीय महिमा से आच्छादिन आत्मीय संस्कृति का रुपायन कवि का मकसद है।

प्रकृति

प्रकृति और मानव के बीच अटूट संबन्ध है। मानव संस्कृति के निर्माण एवं विकास में प्रकृति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति मनुष्य के लिए वरदान है। लेकिन वर्तमान समय में सबसे ज्वलंत समस्या है पारिस्थिति संकट भूमंडलीकृत दुनिया में प्रकृति का उपयोग नहीं उपभोग हो रहा है। आज के ज़माने में हर चीज़ की कीमत पूछ जाती है। विकास योजनाओं की अशास्त्रीयता, अर्थ पर आधारित दुनियादारी, मानव की

1. ममता किरण - वृक्ष था हरा भरा, पृ. 94

आडम्बर प्रियता आदि प्राकृतिक संसाधनों के शोषण के कारण बन गये। जिसके परिणाम स्वरूप प्राकृतिक संतुलन ही बिगड गये हैं। इस असंतुलन का केवल मानव राशि को ही नहीं बल्कि जीव जंतुओं के लिए खतरनाक बन गया है। प्रदूषण, नदी क सूख जाना, असमय पर बारिश होना, सूखा, बाढ़, भौम ताप, पेय जल की समस्या, जलवायु में परिवर्तन, प्लास्टिक प्रदूषण, ई-वेस्ट की समस्या, कूडे-कचरे की समस्या आदि आज की ज्वलंत समस्याएँ हैं। प्रकृति से अलग होकर मानव का कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए प्रकृति को स्वच्छ एवं सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य को एकजुट होकर काम करना ही होगा।

मनुष्य एक जैविक प्राणी है। लेकिन उसने इस सच को भूलकर भोग विलास में डूबकर प्रकृति से कट गया। उसे अपना संसाधन मात्र समझने लगा। समकालीन साहित्य इस प्राकृतिक विपदाओं के प्रति बहुत अधिक सचेत है। साहित्य के द्वारा इस समस्या के प्रति समाज को जागृत करने का प्रयास हर लेखक कर रहे हैं। समकालीन कविता में पारिस्थितिक असंतुलन का वास्तविक चित्र मिलती है। पर्यावरण असंतुलन के लिए ज़िम्मेदार शक्तियों को कविता पहचानती है।

हिन्दी में पर्यावरण संबन्धी कवितों का सृजन 1980 के बाद ज़ोरों पर हुआ है। समकालीन कविता का मुख्य स्वर प्रकृति की ओर वापसी का है। प्रकृति को विस्तृत फलक पर रखकर उसपर विस्तृत चर्चाएँ करती

है। इसमें मनुष्य के साथ जीवन जंतुओं, पेड़-पौधों वनस्पतियों जैसे सभी प्राणी जगत मौजूद है। नन्दकिशोर नवल के विचार कर यहाँ बिल्कुल सार्थक है:- “प्रकृति एक निरपेक्ष सत्ता है... वह मनुष्य से पहले भी थी और कभी यदि मानव जाति का विनाश हुआ तो वह उसके बाद भी रहेगी। प्रकृति मनुष्य पर निर्भर नहीं है, बल्कि मनुष्य ही प्रकृति पर निर्भर है।”¹ समकालीन हिन्दी कविता में पर्यावरण संकट संबन्धी कविता लिखनेवालों में ज्ञानेन्द्रपति, लीलाधर जगूडी, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, हेमंत कुकरेती, विनोद कुमार शुक्ल, अशोक सिंह, प्रयाग शुक्ल आदि प्रमुख हैं।

विकास और प्रकृति

प्राचीनकाल से ही मानव प्रकृति को महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे। लेकिन पूंजीवाद, भौतिकवाद एवं औद्योगिक विकास के साथ मनुष्य प्रकृति से अलग होने लगा। पूंजीवादी शक्तियाँ देश के आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक प्रक्रिया पर ही नहीं परिस्थिति पर भी अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश कर रही हैं। विकास बनाम परिस्थिति इस सदी की सबसे बड़ी बहसों में एक है। आज के विकास योजनाएँ पूरी तरह अर्थ पर आधारित हैं। इसलिए इसका लक्ष्य केवल मुनाफा कमाने का है। पर्यावरण तन्त्र को पूरी तरह अनदेखा करके निर्मित विकास योजनाएँ प्रकृति के साथ साथ मनुष्य के भी शोषण का कारक बन जाते हैं। ‘विकास’ एक सकारात्मक शब्द है। लेकिन वर्तमान स्थिति में विकास के नाम पर जो चल

1. नन्दकिशोर नवल - कविता की मुक्ति, पृ. 40

रहा है वह विकास नहीं 'कुविकास' है। महान कार्यकर्ता सुन्दरलाल बहुगुणा जी प्रकृति के प्रति निष्ठा रखते हुए बताते हैं:- "विकास का लक्ष्य लोगों को स्थायी सुख, शांति और संतोष प्रदान करनेवाला होना चाहिए न कि अस्थायी समृद्धि प्रदान करनेवाला विकास के वास्तविक स्वरूप का निर्णय सभी जीवधारियों के हित तथा सातत्य की दृष्टि से होना परम आवश्यक है।"¹

वर्तमान समय में विकास संबंधी अवधारणाएँ बदल गयी है। वह प्रकृति के अंधाधुंध दोहन एवं लूट में परिणत हो गयी है। प्रगति की सीढियाँ चढते मानव, पारिस्थितिक विध्वंस के कगार पर है। अरुण कमल ने अपनी कविता 'इक्कीसवीं शताब्दी की ओर' में विकास के कारण मानव और प्रकृति के बीच उत्पन्न खाई को सिखानेवाला है:-

“रहा नदी का घाट श्मशान
हर बगीचा कब्रिस्तान बन रहा है
और हम 21 वीं शताब्दी की ओर जा रहे हैं।”²

विकास योजनाएँ विस्थापन का भी कारण बन जाती है। पत्थर से निर्मित मकानों की संख्या बढ़ने के अनुसार मानव मन भी 'पत्थर' होते जा रहे हैं। वृक्षों को काटकर पहाड़ों को तोड़कर जंगली इलाके को समतल बना रहे हैं, उन्हें नगर के रूप में तब्दील किये जा रहे हैं। जिसकी वजह से जंगली जनजातियाँ अपनी आश्रित ज़मीन से बेदखल हो जाते हैं। निर्मला पुतुल की 'संथाल परगना' नामक कविता इस क्षेत्र में एक बहुचर्चित है:-

-
1. सुंदरलाल बहुगुणा - धरती की पुकार, पृ. 100
 2. अरुण कमल - सबूत - पृ. 77

“बाज़ार की तरफ भागते
 गड्ढमड्ढ हो गया है इन दिनों यहाँ
 उखड गए हैं बडे-बडे पुराने पेड
 और कंक्रीट के पसरते जंगल में खो गई है
 इसकी पहचान।”¹

देश की प्रगति हेतु निर्मित बाँध, अनेक पारिस्थितिक समस्याओं के मूल कारण के रूप में आज उपस्थित है। बाँधों के निर्माण से पर्यावरण का संतुलन बिगड गया है। नदी के स्वच्छंद प्रवाह को रोकने के कारण बाढ़ तथा सूखेपन जैसी प्राकृतिक विपदाओं का सामना करना पड रहा है। प्रकृति के सहज, स्वाभाविक स्वरूप को अनदेखा करके सुख-भोग और लालच से प्रकृति को नोच डालने से ही महाप्रलय होता है। उससे कृषि क्षेत्र एवं जंगल पानी में डूब जाते हैं। प्रकृति का विनाश होता है और साथ ही साथ मानव राशी का भी नाश होता है। मानव की इच्छा केलिए कोई सीमा नहीं है। उनकी लालच के सामने प्रकृति भी पण्यवस्तु है। वर्तमान समय में प्रकृति और मानव के बीच की आत्मीयता नष्ट हो गयी है और प्रकृति उनकेलिए केवल एक वस्तु है इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं:-

“वे पहाडों को रौंदना नहीं चाहते
 उनकी दृढता निचोड़ लेना चाहते हैं
 वे नदियों को पाटना नहीं चाहते
 उनके प्रवाह सोख लेना चाहते हैं

1. निर्मला जैन - नगाडे की तरह बजते शब्द, पृ 26, पृ. 96

अगर पूरी होगी उनकी चाहतें
तो जाने कैसी लगेगी दुनिया।”¹

मानव पूरी पृथ्वी को अपने कब्जे पर रखा है। वृक्षों को काट-काटकर बहुमंजिले मकानों का निर्माण करता है। मानव प्रकृति को अपने पंजे में दबोचना चाहता है। समकालीन कवि वीरान होती प्रकृति की सुरक्षा के प्रति अपना संघर्ष जारी रखते हैं और साथ ही अपनी कविता के माध्यम से आशावादी दृष्टिकोण व्यक्त करते हैं:-

“बहुमंजली बिल्डिंगों के लिए काट डाले जिन्होंने
पृथ्वी पर के बरगद
उन्होंने
हमारे शीष को ऊपर
छोड़ दी है सप्तर्षि की छाँह।”²

विकास से उत्पन्न पर्यावरण की समस्या आज गंभीर बहस का विषय है। प्रगति के लिए विकास ज़रूरी है। लेकिन वह विकास प्रकृति की सत्ता को मानते हुए, संस्कृति के साथ जुड़कर होना चाहिए। विकास को सही ढंग से प्रयोग करना चाहिए, नहीं तो इसका दुष्परिणाम भी हमें भोगना पड़ेगा। बाढ़, भूकंप, सूखा आदि इसके द्रष्टव्य है। प्राकृतिक संतुलन को बनाये रखनेवाली योजनाएँ ही मानव समाज के लिए हितकर है।

1. मदन कश्यप - लेकिन उदास है पृथ्वी, पृ. 47
2. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट, पृ. 15

प्रदूषण

स्वच्छ एवं सुद्ध पर्यावरण मनुष्य के लिए ही नहीं, अपितु समस्त प्राणी एवं जीव जंतुओं के लिए अत्यंत आवश्यक है। लेकिन मनुष्य की स्वार्थता एवं उपभोग लिप्सा के कारण पर्यावरण आज दूषित होते जा रहे हैं। पर्यावरण प्रदूषण आज की भीषण समस्या है। प्रदूषण से परिस्थिति का संतुलन नष्ट हो जाता है। यह मानव और प्रकृति के बीच के सुखद-संबंध के टूटने का वृत्तान्त है। बढ़ती जनसंख्या और औद्योगिक विकास कई प्रकार के प्रदूषणों का मूल कारण हैं। उपभोक्तावादी समाज के 'यूस एण्ड थ्रो' संस्कृति भी पर्यावरण का विनाश कर रही है। बाज़ार से हम जो कुछ खरीदते हैं सब में पर्यावरण के संकट में डालनेवाली चीज़ अवश्य है।

कहा जाता है कि तीसरा विश्वयुद्ध होगा तो वह ज़रूर पानी को लेकर ही होगा। बारिश का बिगड़ना, प्रलय, सूखा आदि वर्तमान के यथार्थ बन गए हैं। हमारी संस्कृति के विकास में नदी का महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए ही नदी को संस्कृति की जननी कही जाती है। लेकिन आज नदियाँ मलिन होती जा रही हैं। जिस नदी को हम पवित्र मानकर पूजा करते थे अब वह नगर की नाली बन गई है। औद्योगीकरण के कारण कारखानों की संख्या में भी वृद्धि हुई है और इस कारखानों से बार आनेवाले गंदा पानी नदी में बहा दिया जाता है। जिससे जल में रहनेवाले जीव-जंतुओं और पौधों पर उसका बुरा असर पड़ता है। जिससे पानी पीने योग्य नहीं रहता और प्रदूषित भी हो

जाता है। ज्ञानेन्द्रपति के 'गंगातट' नामक काव्य संग्रह में जल प्रदूषण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। नदी और साबुन कविता की निम्नलिखित पंक्तियों इस दृष्टि से उल्लेखनीय है:-

“स्वार्थी कारखानों का तेजाबी पेशाब झेलते
बैगनी हो गई तुम्हारी शुभ्र त्वचा
हिमालय के होते भी तुम्हारे सिरहानें
हथेली-भर की एक साबुन की टिकिया से
हार गई तुम युद्ध।”¹

आज के मनुष्य सारी गंदगी नदी में फेंक देते हैं। जलस्रोतों में कपड़े धोने, पशुओं को नहलाने, बर्तन साफ करने आदि से लेकर मल-मूत्र को भी नदी में फेंक दिया जाता है। वीरेन डंगवाल ने अपनी कविता में कहते हैं कि आजकल नदियों में जानवरों व मुर्गों के खून, चरबी सब पाते हैं। कसाईखाने के कचरे सब नदी में लोग फेंक देते हैं। 'विद्वेष' नामक उनकी कविता की पंक्तियों इसप्रकार है:-

“यह बूचडखाने की नाली है
इसी से होकर आते हैं नदी के जल में
खून
चरबी, रोंयें और लोथड़े।”²

भारतवासी 1984 दिसंबर 2 में हुई भोपाल गैस त्रासदी को कभी

-
1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट, पृ.20
 2. वीरेन डंगवाल - दुश्चक्र में स्रष्टा, पृ. 23

भूल नहीं सकते। यूनियन कार्बोइड कारखाने में हुई रिसोई के कारण अनेक मासूम लोगों की मौत हुई। राजेश जोशी ने 'धूपघडी' नामक अपने काव्यसंग्रह में इस त्रासदी संबंधी अनेक कविताएँ रची है। वृक्ष के कथन के माध्यम से इसकी भयावहता कवि इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं:-

“मत छुओ हमें मत छुओ बसन्त
 हो सके तो लकडहारों को बुलाओ
 जो काट जालें हमें
 आग में झोंक दें
 हमारे स्वप्न में अब कोई जगह नहीं
 फलों साथ फूलों से लदे होने का
 स्वप्न केलिए
 अब हमारी रात में हमारी नींद में
 सिर्फ मृत्यु घूमती है नंगे पाँव
 दौडते-भागते-हाँफते
 असमय करते हैं बच्चे, औरतें पुरुष निरपराध
 कोई कब तक कब तक देख सकता है
 अनवरत मरते दम तोडते हज़ारों लोगों को
 हट रात।”¹

प्रदूषित वातावरण में जीने के कारण लोगों के बीच अनेक बीमारियाँ फैल रही है। बड़े बड़े कारखानों से बाहर निकलते धुआ वायुमण्डल को प्रदूषित करते हैं। विषैली वायु में साँस लेने कारण शरीर का एक-एक हिस्सा बेकार हो रहा है। मनुष्य जो कुछ अपनी सुख केलिए करते हैं, वे सब अपने

1. राजेश जोशी - धूपघडी, पृ. 191

आपको ही नुकसन पहुँचा रहा है:-

“वह विशालकाय जादुई चिराग की तरह लगता है कारखाना
जिसकी चिमनियों से निकलनेवाला धुँएँ का दैत्य
हमें निगलता जा रहा है लगातार

.....

हमारे फेफड़ों में धूल-गर्द भरता है
हमारे खून का ही हीमोग्लोबिन कम करता है
और आम की चूसी हुई गुठली की तरह
हमें वापस उगलकर लौट जाता है।”¹

वर्तमान समय प्लास्टिक या पॉलीथीन का युग नाम से जाना जाता है। क्योंकि संपूर्ण विश्व में प्लास्टिक अपना स्थान बना चुका है। लेकिन मानव, प्लास्टिक के उपयोग से उत्पन्न होनेवाले दुष्परिणाम के प्रति जानबूझकर भी चुप है। उसे मालूम है कि प्लास्टिक से प्रकृति का तंत्र टूट जाएगा फिर भी वह मौन गीत स्वीकार करता है। इसलिए समकालीन कवि, पॉलिथीन के उपयोग से निर्मित एक नवसंस्कृति है जो मानवराशि के लिए ही नहीं पूरे प्राणिजगत के लिए भी खतरनाक है। इसलिए कवि अपनी कविता के द्वारा आम जनता को जागरूक बनाने की कोशिश करते हैं:-

“पॉलिथीन पॉलीथीन
तंग हूँ मैं इस पॉलिथिन से

....

....

1. मदन कश्यप - लेकिन उदास है पृथ्वी, पृ. 91

वहाँ देखो गंगा में उपलाते पालिथिन
 वह देखों तुम्हारे देखते देखते
 कूद गया एक और पॉलिथिन गंगा में
 चिरजीवा मरजीवा पॉलिथिन
 हमारे समय की सभ्यता का पर्याय है
 हमारे समय की सभ्यता का दूसरा नाम है पालिथिन।”¹

आज प्रदूषण दुनिया की सबसे बड़ी समस्या बन चुकी है। समकालीन समय में मनुष्य सुख सुविधाओं का इतना आदि हो गया है कि इसके लिए प्रकृति का अंधाधुंध दोहन किया जिससे पर्यावरण प्रदूषण की समस्या उत्पन्न हुई। संपूर्ण दुनिया प्रदूषण की विभीषिका से विचलित हैं। अगर हम वातावरण को स्वच्छ बनाए रखने में ध्यान नहीं देते तो आनेवाली पीढ़ी के लिए वह खतरनाक सिद्ध होगा। इसप्रकार समकालीन हिन्दी कविता में प्रकृति का रूप प्राकृतिक सौन्दर्य की मूर्ति न होकर मनुष्य की दखलंदाज़ी से पीडित, विचलित, प्रताड़ित रूप में प्रस्तुत है।

उपभोक्तावाद और जलवायु में परिवर्तन

भूमंडलीकरण के चलते पूँजीवादी, बाज़ारीवादी, उपभोगवादी संस्कृति में पारिस्थितिक शोषण के कई रूप उभरकर सामने आ रहे हैं। विज्ञान और तकनीकी विकास के साथ प्राकृतिक संसाधनों का दोहन भारी मात्रा में होने लगा। साम्राज्यवादी या पूँजीवादी देश हमारे प्राकृतिक संसाधनों पर भी अपना वर्चस्व स्थापित करने के प्रयत्न में है। भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट, पृ 95

प्रकृति को भी एक वस्तु मानती है। प्रकृति के नैसर्गिक संसाधन स्रोत बाज़ारी वस्तु बन गयी है। इसने एक ऐसा समाज का निर्माण किया जो वस्तुओं को उपयोग के लिए नहीं, उपभोग के लिए महत्ता देता है। इसका परिणाम यह निकला कि प्राकृतिक स्रोतों का अत्यधिक शोषण :- “प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के बिना उपभोगवाद का काम नहीं चलता है।”¹

आज के ज़माने में पानी भी बिकाऊ चीज़ है। अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों द्वारा पानी का शोषण ज़ोरों से किया जा रहा है। नदियों का निजीकरण कर पानी को बोतलों में बंद करके ‘मिनरल वाटर’ के नाम से बाज़ार में बिक्री करता है इस तरह पानी का शोषण करने से नदियों में जल का प्रवाह मंद पड जाता है और वह नाले के समान बन जाती है। अरुण कमल की कविता में इस षड्यंत्र का खुला चित्रण है:-

“षड्यंत्र
गंगा के साथ भी षड्यंत्र
हिमालय के साथ
पृथ्वी नक्षत्र सभी भूमंडल के साथ।”²

पूंजीवादी संस्कृति प्रकृति को लूट रही हैं। उनके प्रत्येक क्रियाकलापों पर स्वार्थता की भावना छिपी हुई है। उस यथार्थ को पहचाननेवाले हैं वास्तव में समकालीन कवि। प्राकृतिक विध्वंस के दुष्परिणाम सबसे अधिक भोगनेवाले लोग हैं गरीब जनता। कवि अश्वगोष ने अपनी कविता में इस अदृश्यं यथार्थ

-
1. मनीषा झा - प्रकृति पर्यावरण और समकालीन कविता, पृ. 115
 2. अरुण कमल - अपनी केवल धार, पृ. 57-58

को यों व्यक्त करते हैं:-

“वे देख रहे हैं हर भरा जंगल/जबकि मैं
देख रहा हूँ जंगल के पेड़ों पर ढंगी असंख्य कुल्हडियाँ
वे देख रहे हैं कलकलाती नदी और
मैं देख रहा हूँ / मल-मूत्र को अपनी पीठ पर लादे थका, हारा
पस्त जल
वे देख रहे हैं झोपड़ी/ मैं देख रहा हूँ / झोपड़ी की गोद में बैठा
आग के इंतज़ार में ठंडा चूल्हा।”¹

आज का पूँजीवाद निरंतर प्रकृति को उत्पाद के रूप में परिवर्तित करता है। मानव संस्कृति के विकास में प्रकृति की भी बहुत बड़ी भूमिका है। लेकिन आज की भूमंडलीय संस्कृति में संवेदनशीलता और सहानुभूति के लिए कोई जगह नहीं है। सब अर्थ केन्द्रित है। इनकी नज़र में सबकुछ बिकाऊ चीज़ है। घने जंगल, खेत, झरने, नदियों, संस्कृति सबकुछ बिकाऊ माल मात्र है:-

“काश्तकार बेच दिए जाते हैं खड़ी फसलों समेत
नदियों का हो जाता है सौदा मछलियों से बिना पूछे
खनिज बेच दिए जाते हैं/ बेच दिया जाता है आकाश पाताल
हमारी तन्हाइयाँ तक नहीं बख़ाते बाज़ार के ये बहेलिए।”²

पारिस्थितिक संकट के परिणाम स्वरूप जलवायु में भी परिवर्तन आने लगा है। ऋतुचक्र में परिवर्तन आने का मुख्य कारण भौं ताप का बढ़ना

-
1. अश्वघोष - हंस 2011 जनवरी (अदृश्य का यथार्थ) पृ. 50
 2. विजयशंकर चतुर्वेदी - पृथ्वी के लिए तो रुको, पृ. 71

है। वृक्षों की कटाई के कारण भों ताप प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है। जलवायु परिवर्तन जनित सूखे और बाढ़ के कारण को प्रकृति का सन्तुलन ही बिगड़ जाता है। धरती के तापमान बढ़ने से ग्लेशियर और छुवीय प्रदेशों के बर्फ पिघलने लगे हैं। भौम ताप में वृद्धि के लिए 'ग्रीन हाउस गैस' की कमी मुख्यतः ज़िम्मेदार हैं। मंगलेश डबराल की 'अनुपस्थिति' नामक कविता में पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ने के प्रति कवि की चिंता प्रकट की गई है।

“यहाँ बचपन में गिरी थी बर्फ
पहाड़ पेड़ आँगन सीढ़ियों पर
उन पर चलते हुए हम रोज़ रास्ता बनाते थे।
बाद में जब मैं बड़ा हुआ
देखा बर्फ को पिघलते हुए
कुछ देर चमकता रहा पानी
अंततः उसे उड़ा दिया धूप ने।”¹

मौसम बिगड़ने पर इसका दुष्प्रभाव सबसे अधिक किसानों को भोगना पड़ता है। बाढ़ के समय खेत नदी में मिल जाते हैं। साल ही सुख अकाल के समय पानी के न होने से भी विचलित होता है। राजेश जोशी की 'उमस' नामक कविता में कवि कहते हैं:-

“आषाढ़ के बादल बिना बरसे ही इस बार
उत्तर भारत से फरार हो गए थे
मानसून से पहले की फुहारें भी इन इलाकों में नहीं पड़ी थीं
और चौपट हो चुकी थी सोयाबीन की सारी फसल।”²

-
1. मंगलेश डबराल - आवाज़ भी एक जगह, पृ. 73
 2. राजेश जोशी - चाँद की वर्तनी, पृ. 21

संक्षेप में कह सकते हैं कि समकालीन हिन्दी कविता पर्यावरण बोध की सजगता प्रदान करती है। बढ़ती मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ती हेतु प्रकृति का अत्यधिक दोहन करने से परिस्थिति का संतुलन बिगड़ जाता है। आनेवाली पीढ़ियों के लिए प्राकृतिक संसाधनों के समुचित उपयोग के लिए उसकी सुरक्षा अत्यंत आवश्यक है। इसलिए समकालीन कविता में उभरती आ रही पारिस्थितिक सजगता उसकी समकालीन होने का प्रमाण है। उन कविताओं के अध्ययन से में यह पता चलेगा कि यहाँ प्रकृति अपनी अस्मिता के लिए लड़नेवाली एक इकाई है। केवल अपना गुण-गान उसके लिए अभीष्ट नहीं।

किसानी संस्कृति

भारत एक कृषिप्रधान देश है। यहाँ के अधिकांश लोगों की आजीविका खेतीबारी पर निर्भर है। भारतीय संस्कृति की एक अभिन्न हिस्सा भी है खेती। इसलिए इसको बचाये रखना और पुष्ट करना भारतीय समाज के क्रमिक विकास के लिए आवश्यक है। किसान संस्कृति, भारतीय संस्कृति की आत्मा मानी जाती है। कृषक लोग मिट्टी पर कठिन मेहनत करके कभी-कभी स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों की भूख मिटाने के प्रयत्न करते हैं। किसान हमें खाद्यान्न देने के अलावा भारतीय संस्कृति और सभ्यता को भी सहज करते हैं। यही कारण है कि शहरों की अपेक्षा गाँवों में भारतीय संस्कृति के चिह्न अधिक देखने को मिलते हैं। किसान के लिए कृषि ही शक्ति है और यही

उसकी भक्ति है। किसानी संस्कृति भारत की पुरानी संस्कृति है। लोक संस्कृति की एक मुख्या हिस्सा भी है यह। समकालीन कविता में लोक संस्कृति की गरिमा को चित्रित करने के लिए मुख्य तत्व के रूप में किसानी संस्कृति को स्वीकार करते हैं।

भूमंडलीकरण के इस दौर में भारतीय किसानों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। आज देश की हालत इतनी बिगड गयी है कि आजीविका के लिए खेती पर निर्भर होकर रह नहीं सकते। हर दिन बड़ी तादाद में किसान खेती को छोड़ रहे हैं या छोड़ना चाहते हैं। देश में पिछले कई सालों में हजारों किसान आत्महत्या करने को मजबूर हो गए हैं। भारत से हर एक घंटे में किसान आत्महत्या की खबर आ रही है। अपने ऊपर होनेवाले सत्ता की गहरी उपेक्षा के कारण आज देश के किसान एकत्रित होकर आन्दोलन चला रहे हैं। अन्य हाशिएकृतों के समान किसान वर्ग भी अपनी अस्मिता को प्राप्त करने के सक्रिय संघर्ष में है। किसानी परिवेश में निहित संघर्ष के बहु आयामी स्वरूप पर आगे विचार किया जाएगा।

मिट्टी से आत्मीयता

प्राचीन युग में मानव जंगली जानवरों का शिकार कर अपनी उदरपूर्ति करता था। उसके बाद उसे कंद-मूल, फल और स्वतः उगे अन्न का प्रयोग आरंभ किया। भारत में पाषाणयुग से कृषि का विकास हुआ, ऐसा माना जाता है। बैलों को हल में लगाकर जोतने का प्रमाण पुरातन सभ्यता

से मिलता है। इसलिए प्राचीन काल से ही भारतीय मिट्टी के साथ आत्मीय भाव प्रकट करते थे। किसान और मिट्टी के बीच का संबन्ध अटूट रिश्ते की तरह है:-

“एक अटूट रिश्ते की तरह
कभी नहीं टूटना चाहती थी ज़मीन
बिक जाने के बाद भी।”¹

किसान की सबसे बड़ी संपत्ति उनकी खेती है। ज़मीन से अलग होकर उनका कोई अस्तित्व नहीं है। परिस्थितियाँ जितनी भी प्रतिकूल हो, किसान की नींद में, सपने में हमेशा अपनी ज़मीन की चिंता ही रहती है:-

‘अन्न
धरती की ऊष्मा में पकते हैं
और काटने से बहुत पहले
पहुँच जाते हं चुपके से
किसान की नींद में।”²

अरुण कमल की ‘पूँजी’ नामक कविता में किसान जीवन और स्थानीयता का अंकन है। जिस परिवेश में रहकर कवि का जीवन बीता है उसी से जुड़कर उसकी कविता फूटती है। कवि किसान जीवन से अपने सरोकारों को जोड़ते हुए कहते हैं कि उसके गीत मैदानों, खेतों, बाग-बगीचों से जुड़े हुए हैं क्योंकि यही उनका मूल स्रोत है। यही उनकी पूँजी है:-

-
1. एकांत श्रीवास्तव - अन्न है मेरे शब्द, पृ. 23
 2. वही - पृ. 26

“मैं तो मैदानों खेतों का रहनवार
थोड़े से बोल थे बगीचे बघारों के।”¹

किसान जब मिट्टी में बीज बोते हैं, तब उसके साथ उनकी उम्मीद भी जुड़ी रहती है। जलवायु में परिवर्तन आने पर भी किसान अपनी मिट्टी पर पूरा भरोसा रखता है। वह हार मानने के लिए कभी तैयार भी नहीं होता। यह मनोबल उसे इस मिट्टी से ही प्राप्त हुआ है। कठिन मेहनत करके मिट्टी में सोना उगानेवाले किसानों की जीवन गाथा हमारे लिए सुपरिचित है। जितेंद्र श्रीवास्तव की कविता ‘जो जानते हैं कछार को’ किसान की इस उम्मीद को उजागर करती है:-

“ये वही किसान है कछर के
जो कभी-कभी ही काट पाते हैं
आषाढ में बोर्ड फसल
इनकी खरीफ की फसल
समा जाती है नदी के पेट में
फिर भी ये नहीं हारते मन
तन-मन-धन से
धरती की कोख भरने में जुटे
ये किसान
हर बार बीज के साथ बोते हैं उम्मीद भी।”²

किसान हमेशा श्रमजीवी है। रक्त को पसीना बनाकर वह आजीवन संघर्ष का सामना कर रहा है। प्रकृति से रागात्मक संबन्ध रखनेवाली ग्राम्य

1. अरुण कमल - पुतली में संसार, पृ. 15
2. जितेंद्र श्रीवास्तव - असुंदर सुन्दर, पृ 91

संस्कृति उससे उत्पन्न हुई है। कवि नीलोत्पल ने 'किसान' नामक अपनी छोटी कविता में इसी तथ्य को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार किसान होना वास्तव में मिट्टी होना ही है। इसे पहचानना अनिवार्य है, लेकिन यह आसान नहीं है:-

“मिट्टी की तरह है उनका होना
 उनके बारे में जानना
 गुज़रना है बीज की प्रक्रिया से होकर
 कितनी ही पेड़ों
 और पकी फसलों के बीच से
 अपना संघर्ष होते हुए
 उनकी तपिश
 जगाती है भीतर की खोमोश मिट्टी।”¹

प्रकृति की प्रत्येक इकाई के साथ किसान का प्रगाढ़ संबन्ध है। किसान और मिट्टी के बीच का संबंध माँ और बच्चे जैसा है। मिट्टी के प्रति उतना अपनापन का भाव किसान में है। अरुण कमल की कविता 'फिर वही आवाज़' की पंक्तियाँ है:-

“अब आ रहे हैं कटनी के दिन
 और छाती तक बढ आये धान के पौधे
 फिर खोजेंगे उन हाथों को जिन्होंने कीचड़ में धँसकर रोपा था
 उनको।”²

-
1. नीलोत्पल - अनाज पकने का समय, पृ. 164
 2. अरुण कमल - अपनी केवल धार, पृ. 28

बैलगाडी

आज भले ही मानव ने बहुत विकास को प्राप्त किया है और एक से एक बेहतरीन तथा तेज़ चाल वाली गाडियाँ बनाई हैं फिर भी बैलगाडी के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। किसान के मित्र है बैल। तेज़ी विकास पर अग्रसर होते मानव के सामने आज 'बैलगाडी' उस प्राचीन खेती संस्कृति के चिह्न के रूप में आते हैं। खेती के क्षेत्र में यंत्रों का आगमन होने पर भी कुछ ग्रामीण इलाकों में आज भी बैलगाडी का इस्तेमाल करते हैं। आधुनिक मनुष्य द्वारा निर्मित तेज़ रफ्तार की गाडियाँ पृथ्वी में प्रदूषण की समस्याएँ उत्पन्न करती है। लेकिन बैलगाडी, प्रदूषित पृथ्वी को बचाती है। भगवत रावत की कविता 'बैलगाडी' में कवि इस उम्मीद को प्रकट करते हैं:-

“सभ्यता के सारे पाप ढोती हुई
 कहीं न कहीं
 एक बैलगाडी ज़रूर नज़र आएगी

 लगता है एक वही तो है
 हमारी गतियों का स्वस्थिक चिह्न
 लगता है एक वही है जिस पर बैठा हुआ
 हमारी सभ्यता का आखिरी मनुष्य
 एक वही तो है जिसे खींच रहे हैं
 मनुष्यता के पुराने भरोसेमंद साथी
 दो बैल।”¹

1. www.kavitakosh.com

गाँव की सुन्दर तस्वीर में बैलगाड़ी की उपस्थिति अनिवार्य है। लेकिन आज उसी बैलगाड़ी का उपयोग कम होते जा रहे हैं। वर्तमान समाज में इसका उपयोग करनेवालों को पिछड़े माना जाता है। जितेन्द्र वास्तव की पंक्तियाँ है:-

“वे बैल जो हल से
चीर सकते हैं धरती का कलेजा
ढो सकते हैं समान बैल गाड़ी में नधकर
अब साबित हो गए है पिछड़े।”¹

किसान जीवन यथार्थ

त्याग और तपस्या का दूसरा नाम है किसान। प्रत्येक किसान के जीवन के पीछे संघर्ष की एक गाथा है। प्रत्येक अनाज के कम में उनकी कठिन मेहनत छिपी हुई है। मौसम की प्रतिकूलता का परवाह किये बिना परिश्रम करनेवाले हैं किसान। लेकिन औद्योगीकरण के दौर में कृषि का महत्व कम होते जा रहा है। वर्तमान युग में किसान को कई प्रकार की विभीषिकाओं का सामना करना पड़ता है।

भारतीय किसान गरीबी में जी रहे हैं। प्राचीन काल में हो या वर्तमान समय में वे निर्धन हैं। किसान को दो वक्त का खाना भी नसीब नहीं हो पाता। यह कैसा दुर्भाग्य है कि आज भारत खाद्यान्न की दृष्टि से तो आत्मनिर्भर है, किन्तु खाद्यन्न पैदा करनेवाला किसान संकट में है। आर्थिक उदारीकरण के

1. जिदेन्द्र श्रीवास्तव - अनभै कथा, पृ. 45

प्रभाव में देश के लाखों उद्योगपति-व्यवसायी, राजनीतिक, प्रशासक कोरड़पति बन गए हैं। लेकिन किसान की स्थिति वैसी ही रह गयी है। पहले सामन्तवादियों द्वारा उनका शोषण होता था तो अब नव साम्राज्यवादी शक्तियाँ उन्हें चूस रही हैं। शोषण अब भी ज़ारी है लेकिन शोषकों का चेहरा बदल गया। लेकिन समकालीन समय में उन्होंने इसका प्रतिरोध करना शुरु किया है। कवि कहते हैं कि :-

‘घुट घुटकर जीना भी है कोई जीना ?
लुटेरे करें मौज, हमें है ज़हर पीना ?
फाँसी से तो बेहतर है संघर्ष का बिगुल बजाना
लडते हुए पगडी संभालना या शहीद हो जाना।’¹

एक समय ऐसा था जहाँ किसान का घर अनाज से भरा पूरा था। लेकिन वर्तमान स्थिति में सब खाली दिखायी पड़ती है। किसान की गरीबी को चित्रित करते हुए एकांत श्रीवास्तव कहते हैं कि :-

‘मगर आज कठोर में अन्न नहीं
और कोठी में धान
कितना खाली-खाली यह धान का कटोरा
मण्डी जाती बैलगाडियों में
आखिरी बोरे धान के।’²

अधिकांश किसानों का जीवन ऋण चुकने में ही बीत जाता है।
कभी कभी कर्ज देनेवाले लोग इनकी अशिक्षा का फायदा उठाते हुए उन्हें

1. आलोचना त्रैमासिक, पृ. 36
2. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक, पृ. 124

जीवन भर कर्ज चुकाते रहने के लिए विवश कराते हैं। अंत में उन्हें अनपी पूँजी 'खेती' को बेचना पडता है। 'कन्हार' नामक कविता में एकांत श्रीवास्तव ने किसान की इस दुर्गति को चित्रित किया है:-

“कभी देखो, महाजनी की महीन पैतरेबाजियाँ
जलती हुई फसलें
नीलाम होते गाय-बैल
बिकते हुए खेत
और उसका मिट्टी से लिपटकर रोता हुआ किसान।”¹

भूमिहीन होने किसान, समय की सच्चाई है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ आज कृषि भूमि को किसानों से कॉरपरेट छीन रहे हैं। सरकार भी इसका साथ देता है। विकास योजनाओं के नम पर गाँवों की खेतीवाली ज़मीन छीनी जा रही है। विकास के इस अन्धी दौड़ में कभी कभी किसान पीछे पड जाते हैं। देवी प्रसाद मिश्र अपनी कविता में भूमिहीन किसान की दुर्दशा का चित्रण करते हैं:-

“भूमिहीन किसान जब
मकबरे में घुसा तो
अंदाज़ने लगा यह
कितने रकबे में है।”²

किसानों के लिए खेती करने का खर्च लगातार बढ रहा है लेकिन किसान की आमदनी में कोई वृद्धि नहीं है। जिससे किसान कर्ज के दुष्चक्र

-
1. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूलतक, पृ. 134
 2. देवी प्रसाद मिश्र - प्रार्थना के शिल्प में नहीं, पृ. 24

में पडते हैं। उन्हें अनाज की वास्तविक कीमत नहीं मिलती। जब फसल की सही कीमत नहीं मिलती और उनकी आर्थिक पराधीनता दूर नहीं होती है तो उन्हें आत्महत्या कर लेना एकमात्र विकल्प नज़र आता है:-

“वह बूढ़ा किसान
जिसके खेत में पड चुका है सूखा
जिसके खेत में पड चुका है सुखा
जिसके जवान बेटे ने अपने पीछे
पत्नी और दो बेटियों को छोड
गले में फंदा लगा दिया है।”¹

इसप्रकार समकालीन हिन्दी कविता किसानी संवेदना से संपन्न है। किसानी संस्कृति का आदर्श और उसकी वर्तमान बहहाली दोनों के स्वर कविता में अनुगूँजित है। कविता किसानों के ऊपर होनेवाले अमानवीय व्यवहारों का वर्णन करके उसके उसके लिए भोग्य स्थितियाँ उत्पन्न करने की वकालत करती है। साथ ही बदले हुए समय में किसानी लोक धरातल के नवीन प्रतिमानों का निर्माण भी कर रही है।

लोक संस्कृति

‘लोक संस्कृति’ अंग्रेज़ी के ‘Folk culture’ का हिन्दी रूपांतर है। ‘लोक’ और ‘संस्कृति’ ये दोनों मिलकर ‘लोकसंस्कृति’ शब्द का निर्माण हुआ। लोक और संस्कृति का संबन्ध इतना अभिन्न है कि एक के बिना दूसरे

1. उमाशंकर चौधरी - कहते हैं जब शहंशाह सो रहे थे, पृ. 97

का कोई अस्तित्व नहीं। 'संस्कृति' शब्द से मानव जीवन समस्त पहलुओं का संकेत मिलता है। लोक संस्कृति का संबन्ध उस साधारण जनता के जीवन शैली से है जो समाज निम्न श्रेणी में विराजमान हो। इसलिए लोक जीवन को 'लोक संस्कृति' कहना असंगत नहीं होगा। डॉ. विद्या चौहान के अनुसार:- "लोक का अर्थ सरल, स्वाभाविक मानव समाज है। जिसकी भावनाओं, विचारों, परंपराओं, क्रियाओं एवं मान्यताओं में वास्तविक कल्याण के तत्व विद्यमान रहते हैं इसी को हम लोक संस्कृति भी कह सकते हैं।"¹ इसका मतलब यह है कि 'लोक' और 'संस्कृति' को भिन्न, भिन्न देखते की ज़रूरत नहीं।

किसी भी देश की संस्कृति के निर्माण में 'लोक' की अहम एवं महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लोक, से व्यक्ति के आन्तरिक सौन्दर्य का सूचक है तो संस्कृति उसके बाहरी स्वरूप का सूचक है। किसी क्षेत्र विशेष में निवास करनेवाले लोगों के पारस्परिक धर्म, त्योहार, रीति रिवाज़, मान्यताओं कला आदि को लोक संस्कृति का नाम दिया जाता है। लोक संस्कृति किसी क्षेत्र विशेष को अन्य क्षेत्रों से स्वतंत्र पहचान प्रदान करती है। पं. बलदेव उपाध्याय के अनुसार - "लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित है।"² यहाँ शिष्ट संस्कृति से तात्पर्य आभिजात्य संस्कृति से है जो अपनी प्रतिभा के कारण समाज में ऊँचे स्थान पर होती है। लोक संस्कृति आम जनता की संस्कृति है। यह लोक मानस की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। लोक संस्कृति

1. विद्या चौहान - लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ 41

2. कृष्णदेव उपाध्याय - लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृ. 12

में मानव जीवन के सुरक्षित रखने की इच्छा है। यह देश के जन समुदाय की सामूहिक ऊर्जा का स्रोत होता है।

लोक संस्कृति का विकास प्रकृति की गोद में ही हुआ है। यह सदा ही विकासशील संस्कार पर आधारित रहा है और यह संस्कार परंपरागत होकर भी रूढ़ि एव जडता का पर्याय नहीं है। यह गतिशील है जिसके मूल में निहित मंगल भावना ही इसका प्राणतत्व हैं। लोक संस्कृति में निहित लोक तत्व ही उसका परिष्कार करते हैं। मानव को स्वार्थता का धरातल से मुक्त करने के लिए यही सहायक सिद्ध होता है। आधुनिकीकरण ने आदमी को इस लोक तत्वों से दूर कर दिया। इसलिए समकालीन कवि लोक संस्कृति की महत्ता को मानकर बचाना चाहते हैं। लोक तत्वों को बचाकर रखने का आह्वान देते हैं:-

“शहर को लौटूँगा तो
ले जाऊँगा
पलकों के बटुओं में सुरमई आकाश
थर्मस में झरने का जल
और जिस्म में एक पहाड़ी कस्बे की गंध।”¹

लोक जीवन में कटुता, द्वेष, घृणा के भाव बहुत कम मिलते हैं उनकी जगह प्रेम, सेवा, सहृदयता एवं बंधुत्व की भावना सायास मिलती है। यही व्यक्ति को ऊर्जा प्रदान करता है। इसलिए किसी भी माहौल में ने इसे खोना नहीं चाहते। लोकजीवन का यह पाठ हम घर से ही सीखते हैं। एकांत

1. कुमार विकल - संपूर्ण कविताएँ, पृ. 24

श्रीवास्तव की 'घर' नामक कविता की पंक्तियाँ इसप्रकार हैं:-

“यह घर
हमारा सबसे आत्मीय परिजन
हर दुःख हर सुख में जो रहा हरदम हमारे साथ
क्या इतनी आसानी में गिर जाएगा
घर
मैं तुझे गिरने नहीं दूँगा।”¹

लोक जीवन का अभिन्न हिस्सा है पर्व एवं त्योहार। भारत एक बहु सांस्कृति देश है। इसलिए यहाँ अनेक प्रकार के त्योहार मनाया जा रहा है। प्रत्येक त्योहार मानव-मानव के बीच के आपसी संबंध, प्रेम और एकता का प्रतीक है। त्योहार का संबन्ध प्रकृति के साथ भी है। क्योंकि जिससे ऋतु परिवर्तन की सूचना मिलती है। सुदूर में रहते लोग त्योहार के समय में गाँव वापस आ जाता है और घरवालों के साथ त्योहार मनाते हुए अपनी खुशी आपस में बाँटते हैं:-

“लगता है त्योहार के बाद
उसका मन काम में लगेगा
महसूस होता है
त्योहार का मज़ा घर पर ही है
घर के बिना कैसा त्योहार।”²

कुमार अंबुज, लोक जीवन से जुड़े अनेक कविताएँ रची है। उनकी प्रत्येक कविता में लोक संस्कृति को बचाये रखने का आह्वान है। 'इस

-
1. एकांत श्रीवास्तव - अन्न है मेरे शब्द, पृ. 45
 2. पवन करण - इस तरह मैं, पृ. 60

नश्वर संसार में' कविता में इसी की ओर इशारा करते हुए वे कहते हैं:-

“तमाम नश्वरता के बावजूद
भंगी अपनी झाड़ू बचा लेता है
धोबी अपने घाट का पत्थर
एक भिश्ती बचा लेता है अपने औजार
और किसान गेहूँ की बाली
लोटा अपना घन
समय की छाती पर पटक देता है।”¹

लोक जीवन का दर्पण है लोक गीत। यह अशिक्षित, सामान्य जनता के अनुभव का ज्ञान का कलात्मक माध्यम भी है। लोकगीतों के लय में अद्भुत मिठास और संवेदना होता है। जिसे पढ़ने से ज़्यादा आनंद सुनने में होता है। ‘पुनर्रचनाएँ’ नामक मंगलेश डबराल की कविता पहाड के लोकगीतों से प्रभावित है जिसमें लोक जीवन की अभिव्यक्ति मिलती है:-

“तुम्हारे लिए आता हूँ इस रास्ते
मेरे रास्ते में है तुम्हारे खेत
मेरे खेत में उगी है तुम्हारी हरियाली
मेरी हरियाली पर उगे है तुम्हारे फूल
मेरे फूलों पर मँडराती है तुम्हारी आँखें
मेरी आँखों में ठहरी हुई तुम?”²

भूमंडलीकृत संस्कृति, लोक संस्कृति को प्राचीन कहकर इसकी

-
1. कुमार अंबुज - किवाड, पृ. 34
 - 2, मंगलेश डबराल - हम जो देखते हैं, पृ. 88

उपेक्षा करती हैं। इसलिए समकालीन कवि पाठक को इसके प्रति सचेत करते हैं। लोक संस्कृति को नष्ट कराने का मतलब जड़ को नष्ट करना है। सांस्कृतिक परिवर्तन की ओर इशारा करते हुए लिखित एक कविता है 'कुमार अंबुज' की कविता 'किवाड'। इसमें 'किवाड' लोक संस्कृति के प्रतीक बनकर आता है। कविता की पंक्तियाँ हैं:-

“ये पुराने हैं/लेकिन कमज़ोर नहीं
इनके दोलन में / एक वज़नदारी है
ये जब खुलते हैं / एक पूरी दुनिया
हमारी तरफ खुलती है
जब ये नहीं होंगे/घर/घर नहीं रहेगा।”¹

संक्षेप में कह सकते हैं कि भौतिकवादी युग में मनुष्य से अपनापन नष्ट हो गया है। उसे शांति के लिए लोक संस्कृति की ओर जाना पड़ता है। व्यक्ति का सर्वांगण विकास, लोक संस्कृति से प्रभावित होता है। वर्तमान काल में लोक संस्कृति की गरिमा कम होने पर भी, लोक के समस्त जीवन को सुसंस्कृत रखने में यह अपना विशेष महत्व रखता है।

निष्कर्ष

समकालीन हिन्दी कविता में 'लोक सौन्दर्य' का अपना विशेष महत्व है। वैश्वीकरण के इस दौर में भी समकालीन कवि के मन में 'लोक जीवन के प्रति असीम प्रेम है। क्योंकि वही उनकी जड़ होती है। लोक

1. कुमार अंबुज - किवाड, पृ. 21

संस्कृति ही हमारी संस्कृति की पहचान है। सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के इस युग में 'लोक संस्कृति' को बचाये रखना, इसकी गरिमा का प्रसार करना प्रत्येक नागरिक का दायित्व है। शहरीय सभ्यता में मानव के भौतिक जीवन का विकास होता है लेकिन उनकी आत्मा उससे नहीं रमती। इसलिए ही स्थानीयता के प्रति विशेष लगाव वे दिखाते हैं। नष्ट होते गाँव को ज़िंदा रखने की कोशिश समकालीन कवि करते हैं। अतः कह सकते हैं कि समकालीन कविताओं के माध्यम से कवि लोक जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करके प्रत्येक पाठक को उस लोक सौन्दर्य में मुग्ध कराने का प्रयत्न करते हैं।



चौथा अध्याय

काव्य सौन्दर्य का बदला हुआ
रूप : नव औपनिवेशिक यथार्थ

काव्य सौन्दर्य का बदला हुआ रूप: नव औपनिवेशिक यथार्थ

नव औपनिवेशिक दौर में कविता

भारतवासी उपनिवेश के प्रभुत्व से परिचित हैं, क्योंकि दीर्घकाल तक भारत, ब्रिटन का उपनिवेश रहा था। इस प्रत्यक्ष उपनिवेश से भारत मुक्त हुए हैं, लेकिन दूसरे देशों को बौद्धिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर गुलाम रखने बनाए रखने की चिन्ता आज भी विश्व की साम्राज्यवादी शक्तियों में हैं। इसे हम नव उपनिवेशवाद कहते हैं, नव उपनिवेश में अमेरिका जैसे साम्राज्यवादी शक्ति की सुचिन्तित साजिश कार्य करती हैं। उपनिवेश के समय में साम्राज्य का विस्तार उनका लक्ष्य रहा तो नवउपनिवेश में अर्थ का अपहरण।

आधुनिक भारत के इतिहास में मुख्य रूप से दो तारीख उल्लेखनीय है। एक 15 अगस्त 1947 का और दूसरा 1991 मई। 1947 में भारतीय जनता ब्रिटीश शासन से मुक्त हुआ तो 1991 में उदारीकरण लागू होने से फिर एक बार भारत देश उपनिवेश या साम्राज्यवादी सत्ता की बाज़ारी नीतियों का गुलाम बन गये हैं। राजनीतिक रूप से मुक्त होने पर भी भारत जैसे विकासशील देशों में अब भी विदेशी हित ही चलता है। बहुत तेज़ी से भारत की अर्थ व्यवस्था सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों पर इसका असर पड गया और नियम व कानून में बदलाव आने लगा। वैश्वीकरण, उदारीकरण,

निजीकरण, मुक्तबाज़ार, नव-उदारवाद जैसी नीतियाँ असल में पूँजीवादी या साम्राज्यवादी शक्तियों का ही षड्यंत्र है। जिसके माध्यम से तीसरी दुनिया के देशों पर वे आधिपत्य स्थापित कर सकते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पाश्चात्य देशों में आर्थिक मंदी की स्थिति उत्पन्न हुई। जिससे बचने के उपाय के रूप में विकसित देशों ने आर्थिक पूँजीवाद, अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार को उदारीकरण के नाम से रूपान्तरित किया। इसके लिए उन्होंने तर्क दिया कि अविकसित देशों की अर्थव्यवस्था इसलिए संकटग्रस्त है कि वे संरक्षणवादी नीतियों से प्रतिबंधित है। अतः उक्त देशों को औद्योगिक और सेवा क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियों से संबन्धित नियमों में ढील देकर विदेशी कंपनियों को घरेलू क्षेत्र में व्यापारिक एवं उत्पादन इकाइयों लगाने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। जिससे अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आयेगी। भारतीय अर्थव्यवस्था को पूर्णतः विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के हाथों में सौंप दिया। यह एक ऐसा आघात था जिसने न केवल हमारी अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया वरन् जिसके घातक परिणाम हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में भी स्पष्ट दिखाई पड रहे हैं। जिसके प्रति समकालीन रचनाकार हमेशा पाठकों को सचेत कर रहे हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों की जाँच पडताल करते हुए भीषण समय से लडने का काम कर रहे हैं। इसलिए कविता का स्वर पूर्ववर्ती दौर की भाँति माधुर्य, कोमलता, कल्पना का रंगीन रूप न होकर यथार्थ का है। जीवन यथार्थ की जलती

संवेदना उसमें है। इस प्रकार समय की ज्वलनशीलता को पंक्तियों में उतारने का काम लेखक कर रहे हैं। असल में यह काव्य सौन्दर्य का बदला हुआ स्वरूप है, नवीन सौन्दर्य संकल्पना की स्थापना है।

साम्राज्यवादी शक्ति अपना पुराना स्वरूप बदलकर समाज में प्रवेश किया है। साधारण जनता इस षड्यंत्र को पहचानने में अनभिज्ञ हैं। इस नये युग में शत्रु को जानने के लिए विवेकी होना ज़रूरी है। मंगलेश डबराल इस वास्तविकता को अपनी कविता में यों दर्शाती है:-

“हमारा शत्रु कभी हमसे नहीं मिलता सामने नहीं आता
हमें ललकारता नहीं
हालाँकि उसके आने-जाने को आहट हमेशा बनी हुई रहती है
कभी-कभी उसका सन्देश आता है कि अब कहीं शत्रु नहीं है
हम सब एक दूसरे के मित्र हैं
आपसी मतभेद भुलाकर आइये हम एक ही प्याले से पियें
वसुधैव कुटुंबकम हमारा विश्वास है।”¹

बीसवीं सदी के अंत तक आते आते हम देखते हैं कि ढेर सारा पुराना तत्व ध्वस्त हो रहा है और नित-नूतन पद्धतियों से हम रू-ब-रू हो रहे हैं। यह भी इसके साथ देख सकते हैं कि सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक धरातल पर तेज़ी से बदल रहे हैं। कवि अरुण कमल स्वयं यह महसूस करते हुए लिखते हैं कि :-

1. मंगलेश डबराल - नये युग में शत्रु, पृ. 14

“यह वो समय है
जब शोष हो चुका है पुराना
और नया आने को शोष है।”¹

विदेशी शक्तियों ने उपनिवेशवादी व्यवस्था की स्थापना पहले सत्ता के ज़रिए प्रत्यक्ष रूप में की तो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया साम्राज्यवादी देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से विकसाशील देशों पर हमला करके उन्हें गुलामी की जंजीरों में डाल रही है। इसप्रकार एक आज़ाद देश में गुलामी की हवा बहने लगी है। दिल-दिमाग पर बेडियाँ पड गई है। ये हमारी सोचने-विचारने की ताकत पर आक्रमण कर रही है। कवि कहते हैं कि :-

“बोलते-बोलते एकाएक
मुझे अपनी आवाज़ पुराने दासों की तरह लगी
महत्वाकांक्षाओं के मायालोक में कहीं नहीं थी हमारी भाषा
कहीं दूर कोने-कुचालों से कभी कभी सुनाई पडती थी
उनकी बहुत धीमी और पराजित आवाज़।”²

नव उपनिवेशवादी शक्तियाँ अपनी भोगवादी दृष्टि को हम पर लादने का प्रयास कर रही है। इसकेलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वत्व से, परंपरा से स्मृतियों से और संवेदनशीलता तक से काटने की कोशिश कर रही है। कुमार अंबुज ने अपनी कविता में आदमी की याददश्त को खाली करने में उपनिवेशी शक्तियाँ कैसे प्रयास कर रहे हैं, इसका उल्लेख है।

1. अरुण कमल - नए इलाके में, पृ. 15
2. राजेश जोशी - चाँद की वर्तनी, पृ. 85-86

आदमी को उसकी परंपरा से काटकर उसे स्वत्वविहीन करने के प्रयास पर अपना प्रतिरोध इस प्रकार ज़ाहिर करती हैं:-

“वे चाहते हैं विस्मृत कर दूँ मैं अपना जन्म स्थान अपनी भाषा
भूल जाऊँ अपनी नदी का नाम और उसका संगीत
याद न रहें मुझे अपने बचपन के फूल पक्षी और पेड़
भूल जाऊँ कि मैं एक मनुष्य है
मेरी याददश्त नष्ट करते हुए कर देना चाहते हैं वे मुझे निहत्था
जानते हैं वे यही है सबसे आसान तरीका
जिससे मारा जाऊँगा मैं।”¹

वैश्विक पूँजी के इस युग में मानव संवेदनशीलता को खोकर जीने के लिए विवश हो गए हैं। समकालीन कवि इस समय की भयावहता के प्रति सचेत है। एक ऐसा समय आ गया है कि जहाँ सब कुछ खतरे में है, यहाँ तक की संवेदनशीलता भी बदल चुकी है। वीरेन डंगवाल ने इस बुरे समय को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं :-

“काफी बुरा समय है साथी
गरज रहे हैं घन घमंड के
नभ की फूटती है छाती
अंधकार की सत्ता चिलबिल
चिलबिल जीवन
संस्कृति के दर्पण में ये जो शक्लें मुस्कुराती

1. कुमार अंबुज - क्रूरता, पृ. 53

इसकी असल समझना साथी
अपनी समझ बदलना साथी।”¹

इस स्वार्थ भरी दुनिया में ‘साथी’ संबोधन में बड़ा अपनत्व है।
मुस्कराती शकलें के पीछे छिपी यथार्थ को समझना समय की अनिवार्यता है।

साम्राज्यवादी शक्तियाँ आज नेपथ्य में युद्धरत हैं। वह भिन्न-भिन्न
रूपों में आती हैं। इसलिए इसे पहचानना आसान कार्य नहीं है। समकालीन
कविता में नये रूपों में आते साम्राज्यवाद के चित्र उपलब्ध हैं। उदयप्रकाश
की कविता ‘बहेलिए’ इसका उत्तम नमूना है। कविता की निम्नलिखित
पंक्तियों में साम्राज्यवादी हमले के परिवर्तित स्वरूप विद्यमान हैं:-

“वे आये हैं इधर
हमारे मोहल्ले में, कविता में, कला में
तंबू गाड़ दिया है उन्होंने अपना
वे आये हैं
फूलों के तीर-कमान
चिड़ियों की भाषा
बच्चों की हँसी
पौधों की हरियाली के साथ
विनम्र, मुलायम, धुले
साफ सफेद।”²

-
1. वीरेन डंगवाल - इसी दुनिया, पृ. 11
 2. उदय प्रकाश - सुनो कारीगर, पृ. 54

वैश्वीकरण साम्राज्यवादी कुतंत्र का परिणाम है। राष्ट्रों के बीच व्यापार के लिए बनी गयी वैश्वीकरण की नीतियाँ तीसरी दुनिया के लिए अनेक प्रकार की हानियाँ पहुँचाई है। 'विश्व ग्राम' की संकल्पना सोच में विशाल होने पर भी प्रवृत्ति में वह सीमित है। विश्वग्राम की परिधि हमारे देश के सारे गांव और शहर बाहर है।

'वे दुनिया को
पूरी दुनिया से जोड़ रहे हैं
वे इस दुनिया को
कई दुनियाओं में तोड़ रहे हैं।'¹

वैश्वीकरण ने प्रतियोगिता को सबसे प्रमुख स्थान दिया है। हर दो इकाइयों के बीच में प्रतियोगिता चल रही है। इस उपनिवेशी संस्कृति में मानवीयता के लिए कोई स्थान नहीं है, सब कुछ बिकाऊ केवल एक ही लक्ष्य है- लाभ।

अतिविकसित देशों के 'व्यापारिक समझौते' की नीति के पीछे लाभ की इच्छा कायम है। विकासशील देशों पर अपना आधिपत्य बनाकर रखने के लिए वे अनेक योजनाओं का निर्माण करते हैं। आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के लिए इन राष्ट्रों के साथ मिलकर बनायी गयी योजनाओं ने देश के जन जीवन को दुस्सह बना दिया। हम इस अतिक्रमण के शिकार हो चुके हैं। इसलिए एकांत श्रीवास्तव अपनी 'हस्ताक्षर' शीर्षक कविता में अपने देश

1. विमल कुमार - पानी का टुखड़ा, पृ. 39

और संस्कृति की बिक्री की बात उठाते हैं :-

“सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है
और खो देते हैं हम
अपना देश।”¹

संक्षेप में कह सकते हैं कि स्वाधीन भारत में साम्राज्यवादी शक्तियाँ शक्तिशाली बन गयी है। समकालीन कविता इसकी चेतावनी दे रही है। जिसके प्रति हमें सतर्क कर रहे हैं, सावधानी बरतने की आवश्यकता पर बल दे रही है।

आज की राजनीति

राजनीति एक सुनिश्चित व्यवस्था है, जिसका मूल उद्देश्य जनहित ही होता है। वह व्यवस्था तभी सफल बन जाती है जब देश की जनता उस व्यवस्था के अधीन में सुखद ज़िन्दगी बिताती है। भारत एक लोकतांत्रिक देश है। यहाँ चुनाव के आधार पर शासन चलता है। चुनाव के द्वारा जनता एक सेवक का चयन करता है जिसे नेता कहा जाता है। जनता की समस्याओं के समाधान ढूँढने में एक सहायक के रूप में वे काम करते हैं। राजनीति संबन्धी हमारी धारणा यह थी। लेकिन आज राजनीति का रूप बदल गया है, यह केवल उसकी परीभाषा परिभाषा मात्र रह गयी है। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में नेतागण अपना कर्तव्य भूल चुके हैं। वे अब जनता के

1. एकांत श्रीवास्तव -मिट्टी से कहुँगा धन्यवाद, पृ. 63

सेवक नहीं राजा बन गये हैं। लोकतंत्र का आधार 'लोक' नहीं 'धन' बन गया। राजनीति से तात्पर्य यह रह गया है कि चुनाव जीतना और पाँच साल तक जनता के पैसे से आराम एवं धूर्त का जीवन बिताना।

आज हमारे देश में मतलबी राजनीति का भोलभाला है। कहीं वोट की राजनीति चलती है तो कहीं नोट की राजनीति, साथ ही जाति और धर्म की राजनीति, मित्रता और दुश्मनी की राजनीति भी चल रही है। इससे राजनीति अपने व्यापक अर्थ से सिमटकर संकुचित बन गयी। आज देश के हर क्षेत्र में यही राजनीति चालू है। राजनीति के क्षेत्र में सारे के सारे मूल्यों का हास हो रहा है। इस मूल्यहीन राजनीति में जनता का विश्वास नष्ट हो गया है। वे अपने को असुरक्षित समझते हैं।

नवऔपनिवेशिक दौर में राजनीति में धनबल की भूमिका बहुत बडी है। यह एक सच है कि हमारी शासन व्यवस्था नव साम्राज्यवादी सत्ता के गुलाम बन चुकी है। उदारीकरण के दौर में राजनीतिज्ञों उद्योगपतियों और माफियाओं का गठबन्धन बहुत ही मज़बूती के साथ हो रहा है। पूँजीवाद के सामने समाजवाद की संकल्पना भी धीमी पड गयी। उदारवादी शक्तियों की बलबूते पर बनी चलते शासन व्यवस्था में आम आदमी के लिए कोई स्थान नहीं है। राजनीतिक पतन के इस समय में कविता आम आदमी के पक्ष में खडे होकर सत्ता की आलोचना कर रही है। जनतांत्रिक व्यवस्था का वास्तविक लक्ष्य और उसकी वर्तमान बदहाली दोनों की टीका-टिप्पणी कविता में है।

व्यवस्था विरोधी स्वर

साहित्य का संबन्ध समूचे समाज से है। इसलिए साहित्य में राजनीति पर विचार विमर्श होना स्वाभाविक ही है। हिन्दी साहित्य के बारे में सोचने पर पता चलेगा कि साहित्य और राजनीति के जुड़ाव की एक दीर्घ परंपरा है। तुलसीदास के रामराज की संकल्पना, प्रगतिवादी साहित्य के राजनीतिक पहलू, साठोत्तरी काल के व्यवस्था विरोधी स्वर आदि इसका नमूना है। यह इसका सूचक है कि साहित्यकार राजनीतिक गतिविधियों के प्रति काफी सजग है। साहित्य ही समाज में क्रांति का बीज बोता है जिससे राजनीति रूपी वृक्ष पनपता है। साहित्य प्रत्यक्ष रूप से किसी राजनैतिक विचारधारा का प्रसारक नहीं होता है। लेकिन उसमें सारी विचारधाराओं का स्तर अन्तर्निहित होता है। इसके माध्यम से ही वह असमता, अन्याय एवं असत्य के खलफ आवाज़ उठाता है। एक प्रतिबद्ध रचनाकार दायित्व व्यवस्था तंत्र में व्याप्त हीन प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करना है। इस दृष्टि से देखने पर समकालीन कविता काल-सापेक्ष ही है। वह अपने समय की इन विद्रूपताओं को वाणी दे रही है। इसका प्रमाण है समकालीन कविता का व्यवस्था विरोधी स्वर। कवि वि.... में खंडे होकर सत्ता की समीक्षा करते नज़र आते हैं।

उदय प्रकाश की कविता 'राज्यसत्ता' में कवि प्रजातंत्र से आज का वास्तविक मकसद क्या है, यह बताते हैं। इस 'प्रजातंत्र' में प्रजा के लिए कोई महत्व नहीं है। आज़ादी के बाद भी यहाँ औपनिवेशिक सत्ता का परोक्ष शासन कायम है। कवि कहते हैं कि इस प्रजातंत्र में, प्रजा को सिर्फ तंत्र के

भीतर ही प्रजा होने का हक है। प्रजातंत्र, राज्यसत्ता के भीतर चलता है।

“बोलती है राज्यसत्ता-
कि सुनो मेरी प्यारी प्रजा
तुम्हें तंत्र के भीतर ही
प्रजा होने का हक है।”¹

भूमंडलीकरण सत्ता पर अपनी प्रभुता जमा रहे हैं या सत्ता उन्हीं की ओर बड़ी मात्रा में झुकी हुई है। इसका परिणाम भोगनेवाला होता है देश के आम आदमी। उपनिवेश के समय में हो या नव औपनिवेशिक युग में हो साधारण जनता की स्थिति हमेशा दयनीय रही। अरुण कमल कहते हैं कि:-

“कौन कहता है गुलामी खतम हो गई
कौन कहता है यहाँ जनतंत्र है
कहाँ है पृथ्वी पर वह देश
पूछो उनसे जो हाथ में झाड़ू लिए घूम रहे हैं
राजपथों पर
पूछो पूँजीवाद से बड़ा कूडा
और क्या है माँ पृथ्वी पर।”²

वर्तमान समाज में राजनेताओं के लिए ‘प्रजा’ केवल ‘वोटबैंक’ है। चुनाव के समय में बड़ी बड़ी वादाएँ दिए जाते हैं लेकिन जीतने पर इसकी उपेक्षा करते हैं। हर पाँचवें साल में यही नाटक चलता है। व्यवस्था आज अमीर लोगों के हाथ की कठपुतली बन गयी है:-

-
1. उदय प्रकाश - अबूतर-कबूतर, पृ. 64
 2. अरुण कमल - योगफल, पृ. 18

“अब के राजा प्रजा को कहते हैं ‘जनता’
 चुनाव में गाँव-गाँव की धूल फाँकते हैं
 झुकते हैं, पैर पकड़ते हैं, अपनी गलती मंजूर करते हैं
 अपनी आलोचना सुन मुस्कुराते हैं।”¹

प्रत्येक राजनीतिक दल चुनाव के समय में गरीबी हटाने का नारा देकर कुर्सी पर चढ़ते हैं। लेकिन आज़ादी के इतने साल बाद भी गरीबी की समस्या से हमारा देश मुक्त नहीं है। गरीबों के लिए अनेक योजनाओं का निर्माण तो करते हैं लेकिन इसका फायदा उठानेवाले लोग हैं राजनीतिक दलाल। शासन व्यवस्था श्रमिकों के हित पूरा करने में भी असमर्थ है। वास्तव में हमारा संसदीय व्यवस्था संसद के बाहर और भीतर केवल अमीरों की देखभाल और उनके विषय पर चर्चा करने तक सीमित रहती है। बेघर होते लोगों के बारे में, रोटी के अभाव में मरते बच्चों के बारे में, बलात्कार का शिकार होनेवाली स्त्रियों के बारे में, दलितों के बारे में कोई गंभीर चर्चाएँ नहीं हो रहा है।

“आज भी होंगे करोड़ों पर अन्याय
 अत्याचार होंगे लाखों पर
 इस शाम भी असंख्य रोएँगे भूखे या आधे पेट
 हज़ारों हज़ार रहेंगे वे आश्रम बे सहारा
 औरतें गुजरेंगी हर संभव असंभव अपमान से
 बच्चे होंगे अनाथ या बेच दिए जाएँगे

1. विष्णु नागर - घर के बाहर घर, पृ. 82

बेशुमार हाथ फैले होंगे दूसरों के आगे
आज भी वही होगा जो पाँच हज़ार वर्षों
से होता आया है।”¹

समकालीन कवि आज की राजनैतिक व्यवस्था पर बेचैन है। उदय प्रकाश लोकतंत्र के बारे में कहते हैं-

“राजधानी में सबसे ज़्यादा रोशनी से जगमगाती सडक पर
जब छा जायेगा आँखों के सामने अंधेरा अचानक
एक मारुति कार तेज़ी से स्टार्ट होकर गुज़र जायेगी
अपराध, संस्कृति, आक्रमकता, राजनीति
प्रापर्टी, दलाली, सांप्रदायिकता, पत्रकारिता, हिंसा
सबका एक साथ बजता हॉनी
पूरी पृथ्वी पर गूँजता-सा लोगा उस आखिरी पला।”²

इसप्रकार समकालीन कवि वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था के प्रति अपना असंतोष जाहिर करते हैं।

भ्रष्टाचार, महंगाई, बेरोज़गारी

आज पूरे देश में भ्रष्टाचार फैला हुआ है। भारत में भ्रष्टाचार का इतिहास अंग्रेज़ी शासन काल से शुरू होता है। तब बड़े बड़े राजा लोग सत्ता और संपत्ति के लालच में अंग्रेज़ों के साथ मिलकर भ्रष्टाचार किया था। आज भी वे वही कार्य कर रहे हैं। शासन तंत्र के हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार व्याप्त है।

-
1. विष्णु खरे - लालेटन जलाना, पृ. 43
 2. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम, पृ. 55

आम आदमी इस भ्रष्ट तंत्र में जीने के लिए अभिशप्त है। है। भ्रष्ट राजनीति में धन का प्रभुत्व चलता है। स्वार्थता या लालच की भावना व्यक्ति को भ्रष्ट आचरण के लिए प्रेरित करती है। भ्रष्टाचार के भयावह रूप को उजागर करते हुए कवि लीलाधर जगूडी कहते हैं:-

“चारों ओर जो शोर है
इसका जो भी मतलब हो
इस व्यवस्था
हर आदमी कहीं न कहीं चोर है।”¹

शासन व्यवस्था के ऊँचे पद से लेकर नीचे तक यह भ्रष्टाचार फैला हुआ है। समकालीन कवि भ्रष्ट राजनीति पर व्यंग्य उठाते हैं। जनता इस भ्रष्ट राजनीति को भोगने के लिए अभिशप्त बन गयी है। ‘अधिनायक वंदना’ नामक कविता में गोरख पाण्डे ने यों लिखा है:-

“जय है ज़मींदार पूँजीपति
जय दलाल, शोषण में सन्मति
जय है लोकतंत्र की दुर्गति
भ्रष्टाचार विधायक जय हे ! (जन... गण...मन)
जय पाखंड और बर्बरता
जय तानाशाही सुंदरता
जय हे दमन भूख निर्भरता
सकल अमंगलदायक जय हे !”² (जन... गण...मन)

-
1. लीलाधर जगूडी - नाटक ज़ारी है, पृ. 49
 2. गोरख पाण्डेय - जागते रहोर सोनेवालो, पृ. 78

आज राजनीति, जन-कल्याण के लिए नहीं, व्यक्तिगत लाभ प्राप्ति के लिए है। देश के विकास के आगे सबसे बड़ी बाधा है यह भ्रष्ट राजनीति। भ्रष्टाचार के कारण इंसान अपनी असली ज़िम्मेदारी को भूलते हैं। भ्रष्ट राजनीति के कारण जनता के रक्षक होनेवाले लोग ही उसका भक्षक भी हो रहे हैं।

“आप न उठाएँ सवाल
भ्रष्टाचार का
न उठाएँ एक सवाल बेरोजगार का
देश में सारे सवाल
स्थगित कर दिए गए हैं
क्योंकि संसद में अभी
व्यवथा का प्रश्न है।”¹

बढ़ती महंगाई से आज आम आदमी परेशान है। सरकार जब भी महंगाई को कम करने की बात करती है वैसे-वैसे ही महंगाई बढ़ती जा रही है। कुमार अंबुज इस ‘महंगाई’ पर गंभीर रूप से विचार करते हुए कहते हैं कि जो चीज़ें पहले हम बाज़ार से मुक्त में खरीदने थे, उन्हीं चीज़ें भी आज महंगी बन गयी हैं। सरकार, इस महंगाई को रोकने के लिए करता कुछ नहीं है।

“कल ही अखबार में दाल और अनाज के भाव बढ़ते हुए
याद आया कि मेरे एक पूर्वजन्म में चीज़ें इतनी महंगी न थी
हरे, धनिया, पुदीने के तो कोई दाम ही न थे।”²

-
1. विमल कुमार - पानी का टु:खडा, पृ. 64
 2. कुमार अंबुज - समीरी रेखा, पृ. 40

देश के नौजवान रोज़गार के अभाव के कारण निराश हो रहे हैं। बेरोज़गारी देश की मुख्य समस्या बन गयी है। जिसके कारण व्यक्ति भूख और गरीबी में जीने के लिए विवश हो गये हैं। अपनी इस विवशता को मिटाने के लिए अनैतिक कार्य करने के लिए भी वे तैयार हो जाते हैं।

“सारी बेकारी को एक ओर डालकर कुछ वाले काम देता है
अपना नाम भूल जाने के लिए
पेट की जेब में ठण्डे मुखवाला एक लोहा देता है
पेट भर रोटी खाते के लिए।”¹

इसप्रकार, समकालीन कवि वर्तमान राजनीति का समग्र मूल्यांकन करके उसके प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं। देश की प्रगति के लिए राजनीति की अहम भूमिका है। लेकिन वर्तमान राजनैतिक स्थितियाँ, लोकतंत्र की वास्तविक अवधारणा से कोसों दूर हैं। इसलिए समकालीन कवि इस व्यवस्था का विरोध कर रहे हैं। पथभ्रष्ट राजनीति ने नैतिक राजनीति की संकल्पना को मिटा दिया है।

धार्मिक सद्भावना

स्वस्थ समाज की रचना में धार्मिक सहिष्णुता अत्यंत अनिवार्य है। प्रत्येक धर्म मानवता का संदेश देने के साथ ही भाईचारे की बात करती है। हर धर्म इनसान की भलाई के बारे में कहते हैं। धर्म को लेकर सहनशील होने से ही धार्मिक सद्भावना का उदय होता है, तभी देश व समाज का विकास

1. लीलाधर जगूडी - नाटक ज़ारी है, पृ. 62

भी तेज़ी के साथ होता है। सभी धर्म के लोगों की आपस में सम्मानपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। धार्मिक सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताओं में एक है।

सामान्यतः धर्म का अर्थ अदृश्य, अलौकिक, आध्यात्मिक और अतिमानवीय शक्तियों पर विश्वास से लिया जाता है। शाब्दिक अर्थ है - धारण करना। अतः कह सकते हैं कि धर्म समग्र विश्व तथा मानव जीवन के प्रति एक निश्चित आध्यात्मिक विश्वास आस्था अथवा तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण है जो मनुष्य को मानवता तथा नैतिकता का पालन करना सिखाता है। भारत एक ऐसा देश है जहाँ धार्मिक विविधता और धार्मिक सहिष्णुता को कानून तथा समाज दोनों द्वारा मान्यता प्राप्त है। देश में शांति के लिए धार्मिक सहिष्णुता बहुत ही आवश्यक है। हर मनुष्य को अपने मन में दूसरों के लिए दया व प्रेम की भावना रखनी चाहिए। इससे समाज में फैली हुई द्वेष भावना खत्म हो जाएगी। हमें समाज हित के लिए भाईचारा बनाए रखना चाहिए। मानवता और प्रेम ही व्यक्ति का सच्चा धर्म है।

धर्म और राजनीति के बीच का गठबन्धन

धर्म और राजनीति, दोनों सदियों से व्यक्ति और समाज पर गहरा प्रभाव डालनेवाले विषय रहे हैं। दोनों मानव सभ्यता के विकास में अहम भूमिका निभाती है। धर्म, वह धारण की क्रिया है जो हमें जीने का रास्ता दिखाता है एवं नीति के मार्ग पर चलने का मार्ग प्रशस्त करता है। धर्म तो हर मनुष्य का एवं ही है, वह है मानव धर्म। सभी धर्मों का एक ही संदेश

मिलता है वह है परोपकार यानी दूसरों की मदद। वेद, रामायण, महाभारत जैसे हिन्दू धर्मग्रंथों के अनुसार दूसरों की सहायता करने से बड़ा कोई धर्म नहीं है। इस्लाम धर्म में रहमत को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है। ईसाई लोग अपने धर्म का आधार गरीबों की सेवा मानते हैं। धर्म तो सिर्फ परोपकार और मानव सेवा में निहित है। धर्म एवं राजनीति का कार्यक्षेत्र अलग है। धर्म में राजनीति की गुजाइश नहीं हो सकती, लेकिन राजनीति में धर्म की आवश्यकता होती है। धर्म, उसके मूल अर्थ में स्वच्छ एवं स्वस्थ राजनीति का मार्ग प्रशस्त करती है। हर एक धर्म दूसरों की सेवा करना सिखाता है और राजनीति करनेवाले लोग सदैव जनसेवा को अपना दायित्व समझते हैं।

धर्म और राजनीति की मिलीभगत से निर्मित वर्तमान स्थिति कुछ व्यथित करनेवाली है। आज राजनीतिक लोग धर्म का गलत इस्तेमाल करते हैं। धर्म के नाम पर वे जनता के बीच नफरत की भावना फैलाते हैं। एक धर्मनिरपेक्ष देश के लिए धर्म को सत्ता, राजनीति और प्रशासन से दूर रखना अनिवार्य है।

“मुझे बहुत खतरनाक लगता है
जाति, धर्म का रचा षड्यंत्र
जिसमें राजनीति का
छटाँक भर पाखंड
निरंतर लगा रहा है
वही मुझे सबसे ज़्यादा
खतरनाक लगता है।”¹

1. युद्धरत आम आदमी - जनवरी - मार्च 2019, पृ. 59

आज हमारे देश के प्रत्येक राजनीतिक दल किसी न किसी एक धर्म या संप्रदाय से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़कर कार्य करते हैं। धर्म पर आस्था रखनेवाले लोगों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण राजनेताओं के लिए वे बहुत बड़े वोटबैंक हैं। कुर्सी पर चढ़ने लकेलिए जनमत ज़रूर होने के कारण राजनीति धर्म के साथ जुड़कर चलती है। लेकिन शासन व्यवस्था में धर्मावलंबियों की उपस्थिति देश की धर्मनिरपेक्षता के लिए खतरनाक है। इसी बात को ही उदय प्रकाश जी ने 'दो हाथियों की लड़ाई' नामक कविता में दिखवाई है :-

“और तब
विद्वता बोली
आध्यात्म ही उपचार है,
धर्म ही विकल्प है !
लोग प्रेम से रहे
तो शांति स्थापित होगी।
संसार के
सबसे बड़े बनिये ने
विद्वता के पैरों पर
माथा टेका
संसार के सबसे क्रूर तानाशाह ने
रुद्राक्ष धारण किया।”¹

उपनिवेशी-साम्राज्यवादी सत्ता ने अपने अधिकार और लूट को

1. उदय प्रकाश - अबूतर कबूतर, पृ. 69

बनाए रखने के लिए धर्म को राजनीति से मिलाया था। सांप्रदायिक राजनीति आज भारतीय राजनीति में अहम भूमिका निभा रही है। जिसके परिणाम स्वरूप युद्ध, दंगे, हत्या, लूट-पाट, बलात्कार आदि लगातार होते रहते हैं। युद्ध और हत्या के नाम पर वोट मांगनेवाले राजनीतिक नेता ही आज समाज में ताकतवर हैं। 'दंगा' नामक कविता में गोरख पाण्डेय जी खुलकर यह कहते हैं कि :-

“इस बार दंगा बहुत बडा था
 खूब हुई थी
 खून की बारिश
 अगले साल अच्छी होगी
 फसल
 मतदान की।”¹

एक पवित्र भूमि किसप्रकार एक युद्ध भूमि में तब्दील हो जाती है इसका एक उत्तम दृष्टान्त है 'अयोध्या'। अयोध्या को लेकर जो कोलाहल आजकल हो रहा है वास्तव में उसके पीछे का कारण धार्मिक नहीं कूट राजनीति है। आज 'अयोध्या' नाम सुनकर मानव मन में ईश्वर और मोक्ष की चिंता नहीं बल्कि भय और क्रूर हत्याओं का चित्रण ही आ जाता है। यह गंदी राजनीति का परिणाम है। कवि नेरन्द्र पुंडरीक के शब्दों में :-

“अयोध्या राजनीति के जनखों का शहर है
 जो संघर्ष करके नहीं

1. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोनेवालो, पृ. 23

हज़ारों साल पहले पैदा हुए किसी बच्चे का सोहर गाकर पाना चाहते हैं कुर्सी।”¹

आज की राजनीति, धर्म को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं। धर्म की गलत व्याख्या करते हुए लोगों को आपस में बाँटते हैं। वर्तमान समय में ‘धर्म’ को केन्द्र में रखकर अधार्मिक शक्तियाँ अपना षड्यंत्र रचती हैं। भागवत भगवत, इसी की ओर संकेत देते हुए कहते हैं कि :-

“जब कट्टर और कठोर
अचानक दिखने लगेँ सहृदय-आदार
मनुष्यता और मानवता के पक्ष में करने लगेँ
कुछ ज़्यादा ही तत्सम भाषा का व्यवहार
तो समझ लेना चाहिए
कोई न कोई नए हथियार बनाया जा रहा है।”²

धर्म और ईश्वर के नाम पर आज देश में हत्याएँ हो रही हैं। इस भयानक वातावरण में व्यक्ति असुरक्षा महसूस करते हैं। आम आदमी की करुण पुकार राजनेताओं के कान पर नहीं पड़ती है। कुंवर नारायण ने ‘अयोध्या 92’ नामक कविता में पुरानी अयोध्या और वर्तमान समय की अयोध्या की तुलना की गयी है।

“इससे बड़ा क्या हो सकता है
हमारा दुर्भाग्य
एक विवादित स्थल में सिमटकर

-
1. वसुधा 97, जुलाई-सितंबर 2015, पृ. 154
 2. भगवत रावत - ऐसी कैसी नींद, पृ. 99

रह गया तुम्हारा साम्राज्य
 अयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं
 योद्धाओं की लंका है
 मानस तुम्हारा चरित नहीं
 चुनाव का डंका है।”¹

भारत जैसे देश में लोगों को किसी भी धर्म पर विश्वास रखते हुए जीने का अधिकार है। लेकिन आजकल हमें क्या खाना है, क्या पीना है, किस धर्म पर विश्वास रखना है या नहीं रखना है, कैसे जीना है इसी प्रकार की बातों पर केवल राजनीति का अधिकार है। यह सचमुच फाँसीवाद है। राजनीति और धर्म का गठबन्धन देश में अमानवीय वृत्तियों को बढावा देता है। इसका प्रतिरोध करना और भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में बनाये रखना समकालीन कवि अपना दायित्व समझते हैं।

सांप्रदायिकता

वर्तमान समय की सबसे बड़ी चुनौती है सांप्रदायिकता। सांप्रदायिकता का इतिहास कुछ पुराना है। भारत विभाजन के साथ यह प्रखर होकर सामने आया था। स्वाधीनता प्राप्ति के इतने साल बाद भी भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष देश में यह एक ज्वलंद मुद्दे के रूप में उपस्थित है। सांप्रदायिकता का दावा है कि समाज धार्मिक समुदाय में विभाजित है, जिनके हित एक दूसरे से भिन्न हैं और कभी-कभी उनमें पारस्परिक उग्र विरोध भी होता है। सचमुच यह

1. कुंवर नारायण - कोई दूसरा नहीं, पृ. 95

विवेकहीन समझ का परिणाम है जो सब कहीं अशांति फैलाती है।

सांप्रदायिकता वह विचारधारा है जो धर्म के साथ मिल कर पल्लवित होती है। सांप्रदायिक व्यक्ति वे होते हैं, जो धर्म को सिर्फ भावना के स्तर पर स्वीकार कर लेते हैं, विवेक के स्तर पर नहीं। सांप्रदायिकता का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। वह स्वार्थता, घृणा, विरोध जैसे अमानवीय मनोविकार को पुष्ट करता है। सांप्रदायिक व्यक्ति के सामने मानव नहीं, बल्कि हिन्दू है, इस्लाम है, या अन्य धर्मवाले ही है। जब मानव-मानव के बीच प्रेम की, एकता की भावना नष्ट होती है, वहाँ सांप्रदायिक दंगे जन्म लेते हैं। मानव की हत्या करने की निर्मम स्थिति तक पहुँच जाती है।

सांप्रदायिकता मनुष्य को जोड़ता नहीं बल्कि तोड़ता है और सब कहीं अशांति बनायी रखती है। इस माहौल में मनुष्य का शोषण आसान बन जाता है। फाँसीवादी शक्तियाँ पूरी ताकत के साथ जन-साधारण का शोषण करती रहती है। इस यथार्थ की ओर समकालीन कवियों ने लेखनी चलाई है। विष्णु खरे की कविता 'न हन्यते' में सांप्रदायिकता के नम पर होनेवाले मानव हत्या की क्रूरता को यों उद्घाटित करती है:-

“रोज़ सुनते थे आज इतने हिन्दू कतल कर दिए
इतनी बहू-बेटियों को बिगाडा भगा लिया चंडालों ने
जाने कितनों को जबर्दस्ती गौऊमास खिलाकर अपने में मिला
लिया

निचली जाति को भडकाया, फुसलाय
 फिर मालूम पडा कि दिल्ली स्टेशन पर
 हिन्दुओं की लाशों से भरी गाडियाँ आ रही हैं
 तो हमारी कुमेटि ने भी अपना काम शुरु किया।”¹

सच्चा धर्म हमें प्रेम का पाठ सिखाता है। वह आपस में लडकर जीने का नहीं, एकता के सथ सफलतापूर्वक ज़िन्दगी जीने का मार्ग दिखाता है। जो धर्म मनुष्य को खण्ड-खण्ड करता है, वह धर्म नहीं अधर्म है। धर्म एक सकारात्मक विचार है। इसे विवेक के साथ अपनाना चाहिए।

जहाँ कहाँ भी युद्ध होता है, दंगे होते हैं उसका नुकसान सबसे अधिक निरीह लोगों पर पडता है। सांप्रदायिकता के परिणामस्वरूप विस्थापित या निर्वासित होकर रहनेवाले लोगों की अभिव्यक्ति समकालीन हिन्दी कविता में खूब हुई है। धर्म के नाम पर हिन्दू-इस्लाम के बीच में घृणा का भाव उत्पन्न कराके देश के शांतिपूर्ण वातावरण पर बाधाएँ डालना सांप्रदायिकता का लक्ष्य है। कश्मीर, पंजाब, गुजरात, अयोध्या जैसे प्रदेशों में लोग कितने डरते हुए जी रहे हैं यह हमें मालूम है। समकालीन कवि ‘अग्निशेखर’ जी ‘मुझसे छीन ली गयी मेरी नदी’ नामक कविता में सांप्रदायिकता के कारण विस्थापित जनता का चित्रण व्यक्त करते हैं। ‘अलजेहाद’ की घोषणा करते हुए कट्टरपंथी मुसलमानों ने कवि के गाँव के नाम बदल दिये, कवि की भाषा भी उनसे चन ली है, उन्हें मज़बूरी से अपना हिन्दू रूप यानी चेहरे को भी बदलना पडा। ऐसी खौफनाक स्थिति है कश्मीरी हिन्दुओं का।

1. विष्णु खरे - काल और अवधि के दरमियान, पृ. 47

“एक दिन चुपचाप बदल दिये गये
मेरे सैकड़ों गाँवों के नाम
जैसे आँख मूंदकर पहुँचा दिया गया हो
किसी अरब देश में
मुझसे छीन ली गयी मेरी भाषा
छीलकर फेंक दी गयी उसकी लिपि
मुझसे छीन लिया गया मेरा चेहरा
और सब तरफ से पहचान लिए जान के डर से
मैंने बदल लिया हुलिया।”¹

आजकल पूरे देश में सांप्रदायिकता जहर की तरह फैल रही है। धर्म-मज़हब रंग-रूप, वेशभूषा, खान-पान आदि के नाम पर संघर्ष उत्पन्न किया जा रहा है। धर्म के नाम पर सब कुछ चिह्नित हो रहे हैं। कवि अपने आसपास अचानक उग आए मंदिरों को देखकर हैरान हैं:-

“पिछले एक साल में
धरम मेरे चारों ओर
इतना-इतना बढ़ा कि मैं
अपने ही घर में अधरमी हो गया।”¹

धर्म का बाज़ारीकरण भी सांप्रदायिकता के पीछे का एक कारण है। मंदिर, मस्जिद, चर्च, आश्रम जैसे धार्मिक स्थान आज संपत्ति के केन्द्र बन गये हैं। जब धर्म के साथ पूँजी भी जुड़ती है तब उसकी शक्ति ओर भी बढ़ती

1. अग्निशेखर - मुझसे छीन ली गयी मेरी नदी, पृ. 59
2. भगवत रावत - ऐसी कैसी नींद, पृ. 22

है। जिनके पास पूँजी है उनके साथ है सत्ता एवं शासन व्यवस्था। ऐसे माहौल में धर्म के नाम पर युद्ध एवं हत्याएँ होना साधारण बात रह गयी है। विनोद कुमार शुक्ल की पंक्तियाँ हैं:-

“ईश्वर अब अधिक है
सर्वत्र अधिक है
निराकार साकार अधिक
हरेक आदमी के पास बहुत अधिक।”²

आज धर्म, धर्म न रहकर संप्रदाय में बदल गया है। धर्म सांप्रदायिक तब बनता है, जब धर्म सत्ता के रूप में काम करने लगता है और इस प्रक्रिया में दूसरे धर्मों के साथ उसकी होड चलती है। देश की एकता के लिए सांप्रदायिकता एक चुनौती है। यह हिन्दू और इस्लाम को एक दूसरे के खिलाफ संगठित होने की प्रेरणा देती है। कवि अष्टभुजा शुक्ल सांप्रदायिकता के विरोध में आवाज़ उठाते हैं:-

“किसी धर्म स्थल के
विवाद में
तीन हज़ार लोग बम से
दो हज़ार गोली से
एक हज़ार चाकू से
और पाँच सौ
जलाकर मार डाले जाते हैं
चार सौ महिलाओं की

1. विनोद कुमार शुक्ल - आकाश धरती को खटखटाता है, पृ. 149

इज्जत लूटी जाती है
 और तीन सौ शिशुओं को
 बलि का बकरा बनाया जाता है
 धर्म में
 सहिष्णुता का
 प्रतिशत ज्ञात कीजिए।”¹

संक्षेप में कह सकता है कि सांप्रदायिकता रूपी ज़हर व्यक्ति तथा देश के लिए समानरूप से विनाशकारक है। धर्म मानव कल्याण और भलाई की कामना करते हैं। लेकिन जब धर्म को संकुचित अर्थ में समझकर उसकी गलत व्याख्या की जाती है तब वह अधर्म बन जाते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म पर विश्वास रख सकता है, लेकिन धर्मान्ध होना बेवकूफी है। धर्म, प्रेम का संदेशवाहक होना चाहिए, घृणा का नहीं। धार्मिक विविधता और एकता भारतीय संस्कृति का मुख्य लक्षण है। इन को बनाए रखने के लिए सांप्रदायिक शक्तियों को मिटाना ज़रूरी है, यह मानवीयता की प्रतिष्ठा से ही संभव होगी।

उपभोक्ता संस्कृति

नवऔपनिवेशिक दौर में मानव एक ऐसी संस्कृति पर कदम रखा है जिसे उपभोक्तावादी संस्कृति कहा जाता है। मानव उपभोक्ता बाज़ार का गुलाम बन गया है। उपभोक्तावाद उपभोग के बहुमुखी विस्तार का नाम है। आदमी आज उपयोग से ज़्यादा उपभोग करते हैं। जितना अधिक उपभोग

1. सं. असद जैदी - विष्णु नागर - अपनी जबान, पृ. 12

करता है वह उतना अधिक शक्तिशाली और उतनी ही बडा आदमी समझा जाता है।

बाज़ार प्राचीन काल में हमारी ज़रूरतों की पूर्ती का केन्द्र रहा था तो आज बाज़ार ही हमारी ज़रूरतों का निर्णय करते हैं। आज पूरा विश्व ही एक 'मंडी' वे रूप में तब्दील हुआ है। जिसे 'विश्वबाज़ार' की सज़ा से अभिहित किया जाता है। शंभूनाथ लिखते है: "यह जानकर आश्चर्य होगा कि दुनिया में उपभोक्तावाद की शुरुआत भारतीय सूती कपडे और मलमल की उस खेप से हुई, जो 17 वीं सदी के आखिरी दशक में किसी समय इंग्लैंड पहुँची थी। इस फैशन ने अंग्रेज़ों की रुचि में परिवर्तन ला दिया था। भारतीय कपडे उनकेलिए प्रतिष्ठा चिह्न बन गए थे। उस समय दुनिया में उपभोक्तावाद सिर्फ मुट्ठी भर अभिजनों के बीच सीमित था। धीरे-धीरे उपभोक्ताओं की संख्या बढी। तरह-तरह की वस्तुएँ बनने लगीं। सामाजिक प्रतिष्ठा की होठ बढ गई। अभी कुछ दशकों पहले तक उपभोक्ता माल अपना स्वायत्त संसार न बनाकर अपनी वस्तुगत उपयोगिता के बल पर लोगों की रुचियों, विचारों और जीवनशैलियों के आधुनिकीकरण में निर्णायक भूमिका अदा कर रहे थे। लोग चमकदमक देखकर नहीं, अपनी निश्चित ज़रूरतों के तहत सामान खरीदते थे। बाज़ार के नए सामान प्रलुब्ध करते थे, पर कैद नहीं। वे मानवीय सोच का बंध्याकरण नहीं करते थे और वस्तुओं के उस पार का संसार भी साफ दिखता था।"¹

1. शंभूनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा, पृ. 153

17 वीं लगी में विकसित इस उपभोक्तावादी संस्कृति के रूप में काफी बदलाव आया। यह इतना ज़हरीला बन गया है कि इसने मनुष्य के सोचने की क्षमता को भी नष्ट कर दिया। मनुष्य आज मानवीय गुणों से संपन्न आदमी न होकर एक उपभोक्ता के रूप में या वस्तु के रूप में परिवर्तित हो गया है। उपभोक्ता संस्कृति में मानव जीवन का यही मतलब होता है कि ज़्यादा से ज़्यादा खाकर और ज़्यादा से ज़्यादा भोगकर मरना। राकेशकुमार जी का कथन इसप्रकार है कि “उपभोक्तावाद का मूलमंत्र यही है आरामदायक ज़िन्दगी जियो, भोगवादी बनो, इच्छाओं का दमन मत करो। यही कारण है कि श्रम का महत्व घटता जा रहा है तथा मशीनों, यंत्रों की निर्भरता बढ़ती जा रही है। यही उत्तर पूंजीवाद यानी बाज़ारवाद की मुनाफावादी वृत्ति हैं कि मनुष्य को अधिकाधिक सुविधाजीवी बनाए जाए।”¹

एकांत श्रीवास्तव जी ‘बाज़ार’ नामक अपनी कविता में कहते हैं कि अब इस दुनिया में सिर्फ दो ही वर्ग है बिक्रेता और क्रेता। जो आदमी इन दोनों में शामिल नहीं है उनके लिए समाज में कोई स्थान नहीं है। वह समाज की परिधि के बाहर है।

“यहाँ थोड़े से लोग बिक्रेता है बाकि सब क्रेता
बाकी सब में बहुत से लोग क्रेता भी नहीं है
जो क्रेता नहीं है यानी जिनकी जेबें खाली हैं
उनका कोई जगह नहीं है बाज़ार में
वे बाज़ार के वृत्त से बाहर हैं

1. राकेश कुमार - उत्तर उपनिवेशवाद: चुनौतियाँ और विकल्प, पृ. 84

चढ गई हैं कीमतें चीज़ों की आकाश में
गिर गया है आदमी का बाज़ार -भाव।”¹

उपभोक्तावादी संस्कृति में ‘घर’ चीज़ों का संग्रहालय है। इस संस्कृति में मनुष्य हमेशा नये के प्रति आकृष्ट दिखता है। वस्तुओं को एक बार इस्तेमाल करके उसे फेंक दिया जाता है। आदमी बाज़ार में जाकर नये-नये सामान खरीदते हैं, उसे घर ले आते हैं, पुरानी वस्तुओं की जगह नयी वस्तुओं को रखती हैं। इसप्रकार वर्तमान समय ने ‘घर’ को पुरानी चीज़ों का स्मारक बना दिया है।

“हर घर संग्रहालय है
हर आदमी स्मारक
पुरानी चीज़ों का
.....
.....
जितनी तेज़ी से नष्ट हो रही हैं चीज़ें
उससे बहुत अधिक तेज़ी से
संवर रही है दुनिया।”²

बाज़ार चीज़ों का भरमार है और लोग उन सभी चीज़ों को खरीदने के लिए छटपटाता है। इतने सारी चीज़ें खरीदने के बावजूद भी उन्हें सुख महसूस नहीं मिलता है। इस सुख की खोज में व्यक्ति धीरे-धीरे बाज़ार का बंधक बन जाता है। इसप्रकार उपभोक्ता बाज़ार की प्रत्येक वस्तु पर अपना

1. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक, पृ. 30
2. बोधिसत्व - खत्म नहीं होती बात, पृ. 68

आधिपत्य रखना चाहता है। वर्तमान समय के बाज़ार में केवल इसी सुख का व्यापार होता है। अनिल गंगल की पंक्तियाँ इसप्रकार हैं कि:-

“मैं एक वस्तु खरीदता हूँ
हसरत भरी निगाह से देखना चाहता हूँ दूसरी वस्तु
बाहे फैलाकर समेट लेना चाहता हूँ।
बाज़ार की सारी वस्तुएँ
इतना कुछ खरीद लेने के बावजूद
ज़रूरत से फिर भी कम रह जाता है सुख।”¹

आज हमारे घर में व्यक्ति से ज़्यादा चीज़ें होती हैं। इस चीज़ों के बीच रहकर मानव भी वस्तु के रूप में तब्दील हुआ है। मनुष्य, चीज़ों का गुलाम बन गया है। इसके बारे में मैनेजर पाण्डे का कथन इसप्रकार है कि -“आज के समय में भूमंडलीकरण के प्रभाव और बाज़ारवाद के सर्वग्राही विस्तार के समय में मनुष्य केवल उपभोक्ता बनकर रह गया है। उसका वस्तुओं से, प्रवृत्तियों से, समाज से, दूसरे मनुष्यों से और किसी तरह का संबन्ध नहीं रह गया है। केवल बाज़ार के माध्यम से ही वह वस्तुओं और यहाँ तक कि प्रकृति से भी संबन्ध बनाता है। यह एक प्रकार से मनुष्यता को खत्म करनेवाली स्थिति है।”² मानव से मानवता का नष्ट होना भयानक स्थिति है। बाज़ार के इस षड्यंत्र के प्रति सतर्क रहने का आह्वान समकालीन कवि देते हैं। वर्तमान समय में मनुष्य की कीमत से ज़्यादा वस्तुओं की

1. सं राजेन्द्र यादव - हंस पत्रिका, जुलाई 1994, पृ. 46

2. सं राजेन्द्र यादव - हंस पत्रिका, मई 2003, पृ. 17

कीमत बढ़ गयी है। वह इतना ताकतवर बन गया है कि बाज़ार में उनकी एक स्वतंत्र सत्ता है।

“चीज़े कई बार अजीब दुविधा में डाल देती है
 कई बार उनकी कीमत के आगे
 कम हो जाती है हमारी कीमत

 चीज़े एक दिन इतनी ताकतवर हो जाती हैं
 कि बनती जाती है उनकी स्वतंत्र सत्ता
 तब आदमी नहीं, चीज़ें तय करने लगती हैं
 आदमी का भाग्य।”¹

उपभोक्ता मानसिकता के फैलाव के पीछे विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का गूढतंत्र कायम है। विदेशी चीज़ों के प्रति आकर्षण उत्पन्न कराके, हमारे देशी चीज़ों को बाज़ार से दूर कराना ही इन लोगों का मुख्य उद्देश्य है। खाद्य उत्पन्न भी इससे वंचित नहीं है। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के लोगों में विदेशी खाद्य पदार्थ के प्रति झुकाव नज़र आ रहा है। ‘पिज़ा’, ‘बर्गर’ जैसे ‘जंग फुड’ के आज भारतवासियों के लिए पसंदीदार बन गया है। स्वाद में भी परिवर्तन आय। लीलाधर जगूडो की ‘स्वाद’ नामक कविता में इसका उल्लेख है:-

“कुछ लोग चीज़ें नहीं खाते
 सिर्फ स्वाद खाते हैं
 धीरे-धीरे वे भूल जाते हैं

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी, पृ. 60

स्वाद और चीज़ों के रिश्ते
 उनकेलिए स्वाद चीज़ों के अंतर्गत
 चीज़ें स्वाद के अंतर्गत नहीं रह जाती
 कुछ लोग बेस्वाद चीज़ों से भरते हैं पेट
 वे स्वाद नहीं खाते चीज़ें खाते हैं
 वे जानते हैं
 बेस्वाद चीज़ों में कैसे-कैसे स्वाद होते हैं।”¹

उत्तराधुनिक समय में आदमी उपभोक्ता बाज़ार का गुलाम बन गया है। यह पराधीनता का नया रूप है। आज आदमी के हृदय में बाज़ारी चीज़ों में निहित गुलामी का अंधेरा ही व्याप्त है। वे बाज़ार द्वारा प्रदान की गई सुख सुविधाओं में गुलाम बनकर रहते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति हमें एक बार फिर गुलामीपन की जंजीरों में जकड़ लेने की कोशिश कर रही है। चन्द्रकांत देवताले इसको शब्दबद्ध करते हुए लिखते हैं:-

“आज़ादी से थके लोगों को अब याद नहीं हैं
 सफेद कबूतरों की उड़ानें
 चमकदार और सुन्दर होकर
 चीज़ों में प्रवेश कर चुका हैं अंधेरा
 उन चीज़ों में भी
 जो अभी हमें दिखाई नहीं दे रही....
इस खुशनुमा उत्सव में
 विस्मृत महात्मा की कब्र खोद रहे हैं हत्यारे

1. लीलाधर जगूडी - भय भी शक्ति देता है, पृ. 108

और करोड़ों लोग आज़ादी में गिरफ्तार
मौन खड़े हैं ।”¹

नवऔपनिवेशिक शक्तियाँ अपनी भोगवादी दृष्टि को हम पर थोपने का प्रयास कर रही है। बाज़ारीकरण के औजार, संचार माध्यमों के ज़रिए उपभोगवादी संस्कृति का प्रसार हो रहा है। ज्ञानेन्द्रपति ने अपनी कविता ‘शुरु रात की बेला’ में बाज़ारीकरण के फैलाव को इस प्रकार अंकित किया है।

“तुम्हारी इच्छाओं और रुचियों के नियंता
तुम्हारे भीतर ज़रूरतों ही ज़रूरतें जगाते

.....

यह दृष्टिभ्रम है बेशक
लेकिन कौन कह सकता है दावे के साथ
कि इसमें
दो आँखों के पीछे की मस्तिष्क की इच्छा ही नहीं
उस नाव के मन की चाहत भी शामिल नहीं है।”²

समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उपभोक्तावाद प्रभाव से आया है। भारतीय संस्कृति, आज उपभोक्ता संस्कृति बन गयी है। प्रभा खेतान के शब्दों में:-
“उपभोक्ता संस्कृति संपूर्ण रूप से क्षण भंगुरता, खंडित बिखराव, विभाजन, अपूर्णता, असंगतता और विच्छिन्नता इत्यादि को स्वीकारती है। यह न तो इनसे परे जाने की कोशिश करती है न इनकी प्रतिक्रिया में शाश्वत विकल्प प्रस्तुत करने की चेष्टा करती है, बल्कि भूमंडलीकरण सिद्धांत तो इन्हीं

1. चन्द्रकांत देवताले - उजाड़ में संग्रहालय, पृ. 20

2. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट, पृ. 14-15

टुकड़ों के संग तैरता है, घूंट-घूंट इस विच्छिन्नता को पीता हुआ।”¹ समकालीन कविता, उपभोक्तावाद की कृत्रिम दुनिया में मानवता के लिए आवाज़ देती है। समकालीन कवि इस छद्म संस्कृति के विरुद्ध खड़े होते हैं।

बाज़ार संस्कृति

बाज़ारवाद, पूँजीवाद का अगला चरण है। पूँजीवाद में निवेश मुनाफा कमाने के लिए किया जाता है। बाज़ारवाद में एक ऐसी प्रणाली विकसित हुई है कि जिसमें वाणिज्य विस्तार को स्थानीय स्तर से उठाकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करने की योजना है। बाज़ारवाद के दो प्रमुख तत्व हैं - प्रतियोगिता और शोषण। समय समय के अनुसार मानव की ज़रूरतों के अनुरूप बाज़ार का रूप भी बदल रहा है। बाज़ार पहले ऐसा एक स्थान था जहाँ मनुष्य और समाज के लिए जीवनोपयोगी वस्तुओं की लेन-देन की प्रक्रिया चलती थी। यह प्रक्रिया मनुष्य के आपसी संबंधों पर हानि पहुँचाए बिना संपन्न होती थी। यह बाज़ार की परिकल्पना संबंधी प्रथम चरण था। अब स्थिति बदल गयी। बाज़ार की यह आरंभिक स्थिति में वस्तुओं का उत्पादन और विनिमय ज़रूरतों की पूर्ती के लिए किया जाता था। लेकिन अब बाज़ार ज़रूरत पूर्ती करने, वस्तुओं के आदान-प्रदान का क्षेत्र नहीं रह गया। अब वह मनुष्य की सभी इच्छाओं की पूर्ती और निर्माण का क्षेत्र बन गया है। बाज़ार संचालन अधिकाधिक लाभ कमाने के लिए होता है, जिसे हम बाज़ारवाद कहते हैं।

1. प्रभा खेतान - बाज़ार के बीच: बाज़ार के खिलाफ, पृ. 197

वैश्वीकरण के इस दौर में मानव जीवन 'बाज़ारू संस्कृति' नामक छद्म संस्कृति के अधीन में है। बाज़ार के मायाजाल में पड़े हुए मनुष्य केवल लाभ और लोभ का गणित ही जानते हैं। यहाँ मानवीय संवेदनाएँ भी बिकाऊ बन गई है। लेन-देन के इस युग में मनुष्य केवल उपभोक्ता है। इसलिए ही समकालीन कवि लीलाधर मंडलोई 'बाज़ार' को 'हिंसा का स्थल' कहा है। यहाँ मानव मूल्यों के लिए स्थान नहीं है। सभी मूल्य अर्थ पर अधिष्ठित है।

“बाज़ार हिंसा का स्थल है
यहाँ से शुरू होता है आपका वध
और आपको अपनी मृत्यु का बोध नहीं होता।”¹

बाज़ार की दुनिया चमक-दमक की है। वे लोगों को आकर्षित करने के लिए नयी नयी पद्धतियों का निर्माण करते हैं। मनुष्य उपभोग इतना इच्छुक बन गया है कि उसे उपभोग के बिना और किसी की चिंता नहीं। बाज़ार में भीड़ जम गयी है। चीज़ों की कीमत बढ़ती है फिर भी बाज़ार में भीड़ की कोई कमी नहीं है। कुमार अंबुज की 'बाज़ार' नामक कविता की पंक्तियाँ इस भीषणता को रेखांकित करनेवाली है :-

“जैसा कि बताया मैं कई सालों बाद आ गया था बाज़ार
मुझे वहाँ पता चला कि मेरे न जाने के बावजूद
लगातार इजाफा होता रहा है बाज़ार की भीड़ में
कीमतेँ बढ़ती रही है उसी अनुपात में और कहीं कुछ कमी नहीं है

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुःख, पृ. 83

रोशनी का रेला देखते हुए मैंने सोचा कि मैं बाज़ार में नहीं एक मेले में आया था।”¹

बाज़ारु संस्कृति के जाल में मनुष्य पराधीन है। बाज़ार के षड्यंत्र से अगर आप अनभिज्ञ है जल्दी ही आप इसके गुलाम बन जाएंगे। बाज़ार की नवीनतम जानकारी से हमें परिचित होना ज़रूरी है। नहीं तो बाज़ार आपकी मर्जी को आसानी से नियंत्रित कर सकता है। अगर आपकी अपनी कोई पसंद नहीं है तो आपकी किसी भी पसंद का शिकार बनाया जा सकता है। ज्ञानेन्द्रपति अपनी कविता में बाज़ारु संस्कृति में ‘आज़ादी’ से वास्तविक मतलब का परिचय इसप्रकार देते हैं कि :-

“आज़ादी का मतलब है
बाज़ार से अपनी पसंद की चीज़ चुनने की आज़ादी
और आपकी पसन्द वे तय करते हैं
जिनके पास उपकरणों का कायबल
विज्ञापनों का मायाबल
आपकी आज़ादी पसन्द है उन्हें
चीज़ों का गुलाम बनने की आज़ादी।”²

बाज़ार का यही लक्ष्य होता है कि मनुष्य जीवन पर वस्तुओं का आधिपत्य कायम रखना। चेतना को वस्तुवत् बनाना। बाज़ारु संस्कृति में मनुष्य इसप्रकार बदल गया है कि आज वह वस्तुओं के लिए जीवित है। मंगलेश डबराल ‘हम जो देखते हैं’ काव्य संग्रह में भूमंडलीकरण और

1. कुमार अंबुज - क्रूरता, पृ. 28
2. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ. 123

बाज़ार की भयावहता को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। वे वैश्वीकरण के अदृश्य एवं भयानक रूप से हमारा परिचय कराना और समय के प्रति सावधान रहने का आह्वान देने को नहीं भूलते:-

“अत्याचारी के निर्दोष होने के कई प्रमाण हैं
 उसके नाखुन या दाँत लंबे नहीं हैं
 आँखें लाल नहीं रहती हैं
 बल्कि वह मुस्कराता रहता है
 अक्सर अपने घर आमंत्रित करता है
 और हमारी ओर अपना कोमल हाथ बढ़ाता है।”¹

समकालीन कविता में इस बाज़ार संस्कृति के प्रति रोष प्रकट है। बाज़ार संस्कृति में सबकुछ बिकाऊ है। वस्तुओं के साथ इनसान, धर्म, मानवीय मूल्य, ईमान सबकुछ की बिक्री हो रही हैं। कुमार विश्वबंधु की ‘मंडीनामा’ शीर्षक कविता इसी धरातल पर चर्चित है:-

“बेमतलब का हल्ला-गुल्ला
 मूल्य-वूल्य से झारो पल्ला
 मंदिर-मस्जिद ईश्वर अल्ला
 बेचो सब कुछ खुल्लम खुल्ला।”²

बाज़ार संस्कृति में धन की महत्ता देती है। यह अर्थ केन्द्रित संस्कृति है। यहाँ जीवन मूल्यों के लिए, सच्चाई के लिए कोई स्थान नहीं है। इस लाभ की अर्थनीति में सारी अनैतिकताएँ और हिंसाएँ वांछनीय हैं। आज

-
1. मंगलेश डबराल - हम जो देखते हैं, पृ. 82
 2. वागर्थ - अंक 182, सितंबर 2010, पृ. 10

के बाज़ार की भयानक स्थिति का चित्रण पवन करण ने अपनी कविता 'बाज़ार' में यों किया है:-

“तुम किसी का हक क्यों नहीं मारते
 किसी को लूटते क्यों नहीं
 किसी का गला काटने का कमाल
 क्यों नहीं करते तुम, मेरी दुनिया में
 तुम्हारी कोई ज़रूरत नहीं

 आना जब तुम्हारी जेबें भरी हो
 भले ही नोट खून से लिथडे हो।”¹

बाज़ारु संस्कृति मानव को संवेदनशून्य बना दिया। जिससे मानवीय संबन्ध टूटने लगे। मनुष्य स्वार्थी बन गया है। यहाँ सब कुछ धन के आधार पर आंकते है। बाज़ार के लिए जीवन ही एक व्यापार है। व्यापार से लाभ कमाना ही उनका लक्ष्य है।

“चलने दो जब तक चल सके
 बाद में एक दिन तो बंद होगा ही
 क्योंकि पैसे की यह दुनिया
 बिना लाभ हानि के व्यापार को
 किसी की व्यक्तिगत ज़िन्दगी में भी
 ज़्यादा दिन नहीं चलने देती।”²

-
1. पवन करण - कोट के बाजू पर बटन, पृ. 103
 2. वीरेन्द्र सक्सेना - ठोस होते हुए, पृ. 29

भारतीय संस्कृति पर बाज़ार संस्कृति का अतिक्रमण हो रहा है। इसके प्रभाव से मानव मन वस्तु में परिणत हो रहा है। इसकी असलियत को पाठक के समुख रखने का कम समकालीन कवि कर रहे हैं। वे आदमी को सचेत करते हैं कि बाज़ार बेचने और खरीदने का धिनौना खेल खेल रहा है। कवि भगवत रावत की पंक्तियाँ है:-

“अब जबकि उदारता के ताश के सारे पत्ते खुल चुके है
देखना एक दिन बाज़ार में
बेचने ही बेचनेवाले बेचेंगे
हर आदमी कुछ-न-कुछ बेच ही रहा होगा
कहीं कोई खरीदने वाला नहीं होगा
तब उस दिन वही मूल्यवान रह जायेगा
जो बेचा या खरीदा नहीं जा सका।”¹

बाज़ार, अपनी मोहक जाल में आदमी को फँसाने रहे हैं। इसने वर्ग भेद को बढ़ावा दिया है। यहाँ सारा कामकाज पैसे के आधार पर चलता है। गरीब आदमी इस बाज़ार की सीमा के बाहर है। उनके लिए यहाँ कोई जगह नहीं है। बाज़ार गरीब से उनकी सारी सुख और खुशी छीनना चाहता है। उनकी नींद में भी उन्हें गरीबी की चिंता सताती है। बड़े बड़े मॉल में उनका प्रवेश निषेध है क्योंकि उनके पास इतना मूल्य देकर चीज़ें खरीदने की क्षमता नहीं है। उदय प्रकाश जी कहते हैं:-

1. सं. डॉ. अजिता गुप्ता - अंक 08, अगस्त 2008, पृ. 10

“नींद के लिए बाकी था कल तक किसी कोने में एक अँधेरा
उठा ले गया बज़ार
थोड़ी सी थी जो इज्जत ले गई गरीबी...”¹

बाज़ारु संस्कृति ने मानव जीवन को उपभोग एवं लाभ के सिद्धान्तों में सीमित कर दिया है। अर्थ को जीवन में सबसे मूल्यवान स्थान देते हैं। इस धनकेन्द्रित संस्कृति ने मनुष्य के तन, मन और बुद्धि को भी अपना गुलाम बना दिया। समकालीन कवि बज़ार के इस ‘चमकीली सौन्दर्य’ के पीछे छिपी उस भयानक रूप का चित्रण प्रस्तुत करके मानव समाज को सचेद करने की कोशिश कर रहे हैं। इसने मानव से जीवन मूल्यों को उनके अपने संस्कारों को दूर कर दिया। उसके जीवन को मानवीयता से विहीन बनाके दूभर करने में समकालीन कविता सफल साबित हुई है।

विज्ञापन और ब्रांड संस्कृति

उपभोक्तावादी संस्कृति में विज्ञापन की बहुत बड़ी भूमिका है। विज्ञापन के बिना किसी भी वस्तु को बाज़ार में बिकना असंभव बन गया है। विज्ञापन व्यक्ति के अंतर्मन में प्रभाव डालने के लिए आकर्षक तरीके से वस्तुओं को प्रदर्शित करते हैं। आज विज्ञापन का क्षेत्र इतना बड़ा हुआ है कि यह व्यवसाय के रूप में परिवर्तित हो गया। समाचार पत्रों में, टी.वी में, दीवारों पर, सार्वजनिक वाहनों, वृक्षों, मकानों जैसे सभी जगह पर आकर्षक विज्ञापन को देख सकते हैं। कह सकते हैं कि विज्ञापन, मीडिया के लिए

1. सं. नामवर सिंह - आलोचना (पत्रिका), जनवरी - मार्च 2001, पृ. 63

जीववायु है। विज्ञापन के द्वारा ही ग्राहक बाज़ार से माल खरीदते हैं। विज्ञापन के माध्यम से उपभोक्ता को अलग अलग विकल्प की जानकारी मिलती है। हमारे रहन सहन, वेशभूषा, आचरण त्योहार-पर्व, खाना सब कुछ विज्ञापन तैयार कर रहे हैं।

हर विज्ञापन सच्चाई से कोसों दूर है फिर भी उसका असर ग्राहक समाज में व्यापक रूप में पडता है। विज्ञापन चीज़ों की गुणवत्ता के बारे में आदमी को सोचने का समय नहीं देता है। जिस वस्तु को विज्ञापन की दुनिया में महत्व है, ग्राहक के लिए उसी वस्तु ही श्रेष्ठ है।

“चॉकलेट में मिठास की जगह
विज्ञापनों का शोर भर हो
साबुन में खुशबू के बदले
प्रचारिका की अदाएँ हो
यानी कोई भी चीज़ वह न हो
जो उसे होना चाहिए।”¹

इक्कीसवीं सदी विज्ञापन का युग माना जाता है। विज्ञापन ने लोगों को इतना प्रभावित किया कि उसमें जो कुछ दिखाता है वही सत्ता माना जाता है। नीलेश रघुवंशी की कविता ‘विज्ञापन में किसान’ में खुशहाल जीवन जीनेवाले किसान को दिखाकर इस पर व्यंग्य उठायी है। विज्ञापन में किसान का जीवन खुशहाल है लेकिन वास्तविकता में किसानों का जीवन अत्यंत दयनीय है।

1. मदन कश्यप - नीम रोशनी में, पृ. 59

“लहलहाते खेत-आसमान को छूते
 खड़ी फसलें-मायके आई लडकियों की तरह खिलखिलाती
 लिपे-पुते घर, जिनके भीतर से
 दही माथने और गेहूँ फटकने का सुरीला शोर
 ट्रैक्टर पर हाथ में मोबाइस लिए किसान
 ट्रॉलि नाज के बोरों से लदी
 मंडी में मिलते अनाज के सही दाम
 खिल-खिल जाती बाछें घर भर की
 कितना खुशहाल जीवन, विज्ञापन में किसान का।”¹

बाज़ार के विस्तार में विज्ञापन की भूमिका बहुत बड़ी है। बाज़ार का माल सम्मोहक ढंग से प्रस्तुत करके विज्ञापन उपभोक्ता को आकर्षित करते हैं। विज्ञापन झूठ की दुनिया है। वर्तमान समाज में व्यक्ति इस झूठी दुनिया में रहना पसंद करते हैं। विज्ञापन लोगों को चीज़ों का इस्तेमाल करना भी सिखाता है। कैसे दूध पीना है? कैसे खाना है? कैसे ब्रश करना है? कैसे वेश पहनना है? जैसे सबकुछ विज्ञापन ही सिखाता है, और लोग इसका अनुकरण करना ही चाहते हैं। अनीता वर्मा ने अपनी कविता में विज्ञापन किसप्रकार उपभोक्ता को अपने जाल में फंसाता है इसको दर्शाया है:-

“आज दूध पियेंगे तो पहले देखिए उसके तरीके
 और दिन भर करने को रह गये हैं बस दो काम
 या तो नहा लीजिए या फिर धो लीजिए कपड़े
 बहुत खुश हो तो चार बार कर सकते हैं ब्रश...

1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ. 63

....सब कुछ दिखाता है कहकर भी पर्दे के पीछे की सच नहीं दिखाया जाता....
कुछ दिनों बाद शायद बनाये जायें विज्ञापन खरीदिए एक पूरा आदमी भाव प्रेम और संवेदना से भरपूर।”¹

बाज़ार के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार माल बिके। लीलाधर जगूडी की कविता में ‘मैल’ को किसप्रकार विज्ञापन का उपयोग करते हैं इसपर प्रकाश डाला है। साबुन और डिटर्जेंट को बेचने के लिए विज्ञापन देते हैं। विज्ञापन में मैल साफ करने का वादा देते हैं। भले ही इस साबुल और डिटर्जेंट से मैल क सफायी न हो, उसे तो सिर्फ माल को बेचने का सरोकार है।

“मैल कितना उत्पादक हो सकता है यह साबुनों और डिटर्जेंट पाउडरों के बीच हो रहे युद्ध से जाना जा सकता है जिन्हें सौन्दर्य के मैनेजर अधिक सुन्दर दमों पर बेचने की होड में हैं...।”²

विज्ञापन के क्षेत्र में आज सबसे अधिक स्त्री शरीर का शोषण होता है। यहाँ स्त्री को केवल वस्तु ही समझती हैं, उनकी कीमत वस्तु से भी कम मानी जाती है। स्त्री इससे बिलकुल अनभिज्ञ है। स्त्री शरीर के नंगेपन को प्रदर्शित करके लोगों को आकर्षित करके बिक्री बढ़ाते हैं।

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब, पृ.19
2. लीलाधर जगूडी -ईश्वर की अध्यक्षता में, पृ. 21

“पहले स्त्री बाज़ार नहीं जाती थी
 वह फैली हुई थी समूचे घर में....
 ...अब बाज़ार स्त्री के कदमों में है
 उसके केश सहलाता उतारता कपडे
 सामान कोई भी हो बेची जाती है हमेशा स्त्री....
खरीदनी है अगर दवा तो देखो स्त्री को
 दर्द से ज़्यादा असरदार है उसकी कमर
 तेल से ज़्यादा सुन्दर है केश कपडों से ज़्यादा देह
 देखा चमकीली आँखें कितनी त्वचा।”¹

विज्ञापन की दुनिया में स्त्री का व्यापार चल रही है। यह एक विडम्बना है कि आज स्त्री मुक्ति के लिए एक तरफ से आवाज़ आती है तो दूसरी तरफ वही स्त्री बाज़ार या विज्ञापन की मायावी दुनिया में गुलामी को चुनती है। स्त्री सौन्दर्य विज्ञापन के लिए अनिवार्य बन गया है। लेकिन स्त्री इसका चयन स्वयं करती है। विज्ञापन के लिए उसके सौन्दर्य प्रदर्शन को वह सम्मान या प्रतिष्ठा मानती है। आज हमारी मानसिकता ही कुछ ऐसी बन गयी है कि विज्ञापन का अर्थ ही स्त्री की अश्लील छवि को दिखाना बना गया है। स्वप्निल श्रीवास्तव की कविता ‘प्रायोजक’ में किसप्रकार स्त्री के शारीरिक सौन्दर्य का उपभोग विज्ञापन द्वारा होता है इसी का वर्णन है:-

“एक साबुन के बारे में लगातार/बताया जा रहा है
 कि वह साबुन नहीं है/निरन्तर प्रचारित किये जा रहे हैं
 झूठ के झाग में भीग रही है/स्वप्न सुंदरी की मांसल देह

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब, पृ. 25

उसके ऊपर चौरासी कैमरों की आँखें
विभिन्न मुद्राओं में झिलमिला रही है।”¹

आज बाज़ार में ब्रांडों का बोलबाला है। ब्रांडेड चीज़ों की बढ़ती कीमत, विज्ञापन के अनुसार बढ़ती गुणवत्ता का प्रमाण माना जाता है। दूसरी चीज़ों की अपेक्षा ब्रांडेड चीज़ खरीदने को ही युवा लोग चाहते हैं। ब्रांडेड चीज़ों का इस्तेमाल करनेवाले आदमी को समाज में सम्मान मिलता है। बच्चों से लेकर बुजुर्ग तक विज्ञापन के ज़रिए बाज़ार के प्रत्येक ब्रांड से परिचित है। कभी-कभी यह भी होता है कि वस्तु का नाम भूल जाते हैं लेकिन ब्रांड का नाम नहीं भूलता। कुंवर नारायण जी ‘बदलते पोस्टर’ नामक कविता में इसी का संकेत देता है:-

“कभी लिरिकल साबुन में नहाती सुंदरी
कभी डालडा वनस्पति से पनपने बच्चे
कभी इफको खाद से लहलहाती फसलें
कभी सदाबहार पान के मसाले
कभी एटलस साइकिल पर सवार पगगड़ किसान
कभी हाथ जोड़े खड़े धनवर्षा का संदेश देते धनकुबेर।”²

ब्रांडेड संस्कृति में फंसे युवा लोगों का चित्रण निर्मला पुतुल अपनी कविता में यों करती है:-

“यहाँ के लडकों के पास उपलब्ध है
एक्शन के जूते, जींस और गाडियाँ

-
1. स्वप्निल श्रीवास्तव - मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए, पृ. 21
 2. कुंवर नारायण - कोई दूसरा नहीं, पृ. 115

लडकियों के पास 'फेयर एंड लवली' से
निखरे चेहरे/और बच्चे खेल रहे हैं पेप्सी-पेप्सी
गा-गाकर सेक्सी-सेक्सी वाला गीत/गालियों में”¹

ब्रांडेड चीज़ों का उपयोग युवालोग ही सबसे अधिक करते हैं। भूमंडलीकरण के विकास से विज्ञापन के क्षेत्र को बहुत अधिक फायदा मिला है। विज्ञापन को छोड़कर बाज़ार में प्रवेश पाना अब मुश्किल बन गया है। उत्पाद की मांग और विश्वसनीयता को बनाए रखने में विज्ञापन की भूमिका बहुत बड़ी है। कह सकते हैं कि बाज़ार का अर्थतंत्र विज्ञापन पर टिका है। वस्तुओं के क्रय-विक्रय में मात्र नहीं उसकी लोकप्रियता बढ़ाने में भी विज्ञापन को मुख्य स्थान है। विज्ञापन के द्वारा जिस संस्कृति का फैलाव आज समाज में हो रहा है वह जनसंस्कृति नहीं अपसंस्कृति है।

आम आदमी की व्यथा

भारत की आर्थिक असमानता का मुख्य कारण उदारीकरण की नीतियाँ हैं। आर्थिक उदारीकरण अमीर और गरीब के बीच की खाई को और भी बढ़ाती है। जिसकी वजह से आज गरीब और भी गरीब हो रहे हैं और अमीर और अधिक अमीर। 1991 में लागू की गयी उदारीकरण की नीतियों से देश के संपन्न एवं मध्यवर्ग की स्थितियाँ काफी सुधर गयीं। लेकिन गरीब लोगों का जीवन और भी बहतर बन गया। इसके परिणाम स्वरूप देश की आर्थिक स्थिति निरन्तर खराब होती रही और अनेक समस्याओं का आगमन

1. निर्मला पुतुल - अपने घर की तलाश में, पृ. 83

हुआ। देश के आधी आबादी से लोग आर्थिक शोषण का शिकार होता जा रहा है। बहुसंख्यक युवा, बच्चे और महिलाएँ आजीविका की खोज में भटक रहे हैं, तो दूसरी ओर आभिजात्य वर्ग विलासी जीवनन बिता रहे है। मज़दूर-किसान वर्ग गरीबी रेखा के नीचे जीवन जाने केलिए विवश है। समकालीन हिन्दी कविता में, भूख गरीबी और बेरोज़गारी जैसी समस्याओं से त्रस्त आम आदमी का चित्रण है। पूँजीवादी-सामन्तवादी व्यवस्था के विरोध में खड़े होकर कविता इन श्रमजीवियों के साथ जुडती है। आर्थिक असमानता, आर्थिक संकट के प्रति कवि ने आवाज़ उठाई है।

वर्तमान समय में देश की आर्थिक स्थिति दिन-ब-दिन बदतर होती जा रही है। आम आदमी केलिए न धंधा मिलता है न राशन मिलता है। खाना न मिलने के कारण उसे भूखे रहना पडता है। उनकी भीषण यथार्थ लीलाधर जगूडी के विचार में :-

“न विद्रोह/न युद्ध/ न शासन
कुछ नहीं मिल पा रहा है
न धंधा/न चंदा/ न राशन।”¹

भूख और गरीबी के कारण आत्महत्या करनेवाले लोगों की संख्या भी कम नहीं है। इस अभावग्रस्त ज़िन्दगी से वे पूरी तरह टूट चके हैं। उनके सामने आत्महत्या के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस विवशता को ज्ञानेन्द्रपति जी अपनी कविता में यों उकेरती है:-

1. लीलाधर जगूडी - नाटक ज़ारी है, पृ. 50

“बार-बार चूहामार दवा बेचनेवाला खरपतू
जो पिछले साल
पेट में कूदते चूहों के लिए
पूरे परिवार के सथ चूहामार दवा खा
सोया हुआ पाया गया था।”¹

कार्षिक वृत्ति के पराभाव के कारण देश की ग्रामीण जनता रोज़गार की तलाश में शहर की ओर जा रहे हैं। आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए गाँव के लोग अपनी कला को शहर में बेचने के लिए विवश हो जाते हैं। लेकिन यह भी सच है कि शहर में भी उनके श्रम का सही मूल्य नहीं मिलते हैं।

“अपनी कटोरियों के रंग उंडेलते
शहर आए है ये गाँव के फूल।”²

गरीबी, जीवन का अभिशाप है। हमारे देश में ये विपरीत स्थितियाँ मौजूद है कि एक ओर जनता भूख और गरीबी से मरते हैं तो दूसरी ओर अधिक खाने से रोगग्रस्त होकर कईयों की मृत्यु हो जाती है। यह हमारे देश की सबसे बड़ी विडंबना है। तकनीकी-प्रौद्योगिकी विकास के इस युग में भी देश के गरीबी लोगों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। यह इसका सूचक है कि देश में अर्थ का केन्द्रीकरण कुछ लोगों में सीमित होता है। गरीबी हटाने के लिए बननेवाली सरकारी योजनाओं में कोई कमी नहीं है। लेकिन

-
1. ज्ञानेद्रपति - संशयात्मा, पृ. 200
 2. ज्ञानेद्रपति - संशयात्मा, पृ. 32

इस योजनाओं का फल गरीब जनता तक पहुँचते नहीं है। वे अब भी रोटी की प्रतीक्षा में जीवन जी रहे हैं।

“अपने हिस्से की भूख के साथ
सब नहीं पाते अपने हिस्से का पूरा भात
बाज़ार में जो दिख रही है
तंदूर में बनती हुई रोटी
सबके हिस्से की बनती हुई रोटी नहीं है।”¹

भारत जैसे विकासशील देशों के लिए ‘गरीबी’ का होना स्वाभाविक है। लेकिन वर्तमान समय में यह समस्या इतना गौरवपूर्ण होने का एक कारण उदारीकरण ही है। इसलिए ‘गरीबी’ की यह तीव्रता पूँजीवाद द्वारा निर्मित है ऐसा कहा जा सकता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से देश की पूँजी विदेश में चली जाती है और देश के अमीर जनता पैसा कमाने में व्यस्त है। पिछले कुछ सालों से आर्थिक अभाव के कारण मरनेवालों की संख्या में भयानक वृद्धि हुई है। उदय प्रकाश जी की कविता ‘एक जल्दबाज़ बुरी कविता में आँकड़े में’ कहते हैं कि:-

“कविता का एक वाक्य लिखने में दो मिनट लगते हैं
इतनी देर में चालीस हज़ार बच्चे मर चुके होते हैं
ज़्यादातर तीसरी दुनिया के
भूख और रोग से।”²

श्रमिकों का जीवन कुछ इसप्रकार है कि वे स्वयं अनेक कष्टताओं

-
1. विनोदकुमार शुक्ल - अतिरिक्त नहीं, पृ. 17
 2. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है, पृ. 28

को सहकर दूसरों को सुख सुविधाएँ देने के कार्य में लगे हैं। यह झोपडी में रहकर अमीरी लोगों के लिए अट्टालिका का निर्माण करते हैं। वे देश के ऐसे प्रदेश में रहते हैं जहाँ चारों तरफ कूड़े-कचरे हैं और गन्दगी से भरा हुआ है। यहाँ रहकर ही शहर के कूड़े-कचरे निकालने का काम करते हैं, कभी कभी इन्हीं हाथों से ही वे खुशबूदार अगरबत्तियाँ बनाते हैं। मज़दूरों के हाथ फटे हैं, नाखून टूटे हैं, हाथों पर जख्म हैं, परन्तु वे ही समाज में खुशबू फैलाते हैं:-

“इन्हीं गंदे मुहल्ले के गंदे लोग
बनाते हैं केवडा, गुलाब, खस और रात रानी
अगरबत्तियाँ
दुनिया की सारी गन्दगी के बीच
दुनिया की सारी खुशबू
रचते रहते हैं हाथ।”¹

देश के अमीरी लोग विलासपूर्ण जीवन बितानेवाले हैं। वे समाज के निम्नवर्ग के श्रम को कठिनाइयों को भूलकर उनका शोषण करते ही रहते हैं। लीलाधर जगूडी ने अपनी कविता में श्रमिक लोगों की जीवन्त सच्चाई को इसप्रकार चित्रित करते हैं:-

“वे केवल खा रहे हैं। बिना यह जाने हुए।
किये रोटियाँ कहाँ से आ रही हैं
और ये सब्जियाँ हरी हैं
तो वे लोग कैसे हैं जो इन्हें उगाते हैं।”²

-
1. अरुण कमल - अपनी केवल धार, पृ. 81
 2. लीलाधर जगूडी - इस यात्रा में, पृ. 41

समकालीन कवि सर्वहारा वर्ग के लिए श्रम वास्तविक मूल्य देना चाहते हैं। समाज के उच्चवर्ग इसको उपेक्षित वर्ग मानते हैं। इन लोगों के जीवन संघर्ष को जानने और उसे सुलझाने के लिए किसी के पास वक्त नहीं है। आर्थिक उदारीकरण इन लोगों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं लाया है। वे अब भी खून को पसीना बनाकर मेहनत कर रहे हैं।

“जो रोशनी में खड़े होते हैं वे
अंधेरे में खड़े लोगों को
तो देख भी नहीं सकते
लेकिन अंधेरे के लोग
रोशनी में खड़े लोगों को
देखते रहते हैं साफ-साफ।”¹

देश की आर्थिक असमानता का भोजन सबसे अधिक आम आदमी के कंधे पर पड़ता है। अरुण कमल ने अपनी कविताओं में इस आम आदमी की जीवन स्थिति को चित्रित करके कहते हैं कि इन लोगों का जीवन स्थिति आवारा कुत्ते सी हो गई है। जीवन यथार्थ से जूँझता आदमी अपने पैरों तले ठोस ज़मीन और सिर पर छत के अभाव में जीवन रूपी भोजन ढो रहा है। उनकी पूरी ज़िन्दगी में मुसीबतों का भरमार है। आम आदमी की इस दुःख को कवियों प्रकट करते हैं:-

“दुनिया में इतना दुःख है इतना ज्वर

1. अष्टभुजा शुक्ल - दुस्वप्न भी आते हैं, पृ. 79

सुख केलिए चाहिए दो रोटी और एक घर
और वही दिन-ब-दिन मुश्किल पड रहा है।”¹

देश में अमीर और गरीब जनता में ज़मीन और आसमान का अंतर है। इस विषमता को दूर करना अब कठिन कार्य बन गया है। कभी-कभी यह सपना रह जाता है। पवन करण जी ने इस अंतर को व्यक्त करते हुए लिखा है :-

‘मैं और वे जो रोटी खाते हैं
उसमें नब्बे लाख गुना अंतर है
क्या मेरी और उनकी रोटी
नस्ल में अन्ततः रोटी ही है
गणना में उनसे नब्बे लाख गुना कम
मैं अपने मेहनत की गन्ध से परिचित हूँ
उनके पसीने का कोई स्वाद होगा।”²

इसप्रकार समकालीन हिन्दी कविता आम आदमी की जीवन व्यथा चित्रित करती हैं। अर्थ का केन्द्रीकरण देश के विकास केलिए हानिकारक है। इसलिए आर्थिक उदारीकरण की नितियों में बदलाव लाना चाहिए इसके बिना आम का जीवन की सच्चाई का सपना निरर्थक है। इन लोगों के श्रम को मूल्य देना, उनके जीवन संघर्ष को समाप्त करना प्रत्येक नागरिक का दायित्व है।

-
1. अरुण कमल - पुतली में संसार, पृ. 63
 2. पवन करण - कहना नहीं आता, पृ. 38

किसान आत्महत्या

हमारे देश में कृषि और किसानों की हालत दिन-ब-दिन बदतर होती जा रही है, जिसके कारण अनेक किसान आत्महत्या करने पर मजबूर होता जा रहा है। इन आत्महत्याओं के पीछे कई कारण हैं, जिनमें प्रमुख हैं - अनियमित मौसम की स्थिति, ऋण का बोझ, समय समय पर सरकारी नीतियों में आनेवाले बदलाव और परिवार की बोझ आदि। भारत में किसानों की आत्महत्या के मामले में पिछले कुछ सालों से वृद्धि हुई है। किसानों की आत्महत्या में देश के आगे रागात्मक स्थिति उत्पन्न कर दी है। वेदप्रकाश अमिताभ कहते हैं कि :- “आज कृषि प्रधान देश के किसान की दशा चिंता का विषय बनी है। गरीबी -अभाव, दरिद्रता, ऋण, तंगी, अशांति, मुकदमे, बाज़ार की कुटिलता मिथ्या-मर्यादा, प्राकृतिक विपदा आदि के मकडजाल में वह बुरी तरह फँस गया है। कड़ी मेहनत के बावजूद उसे दो जून की रोटी मोहतज़ नहीं होती। वह इसे ही नियति मान चुप-चाप समय की मार सह रहा है। वह आजीवन अभाव की आँच एवं ऋण की से उभर नहीं पाता। कठिनाइयाँ एवं शोषण के कारण जीवन जर्जर बन गया है।”¹ यही है भारतीय किसान का जीवन यथार्थ। इस दुःस्थिति में उनके सामने आत्महत्या के बजाय कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस गंभीर समस्या पर नज़र डालते हुए लीलाधर मंडलोई जी लिखते हैं:-

“एक किसान और मर गया
इसे आत्महत्या कहना

1. वेदप्रकाश अमिताभ - सर्जनात्मकता में गाँव, पृ. 125-126

अपमान होगा
मरने के समय
वह बैंक का दरवाज़ा खटखटा रहा था।”¹

भारतीय किसान साल भर मेहनत करता है, अन्न का उत्पादन करता है, देशवासियों की भूख मिटाती है। किंतु बदले में उसे उपेक्षा ही मिलती है। वह अन्नदत्ता होते हुए भी स्वयं भूखा और अंधनंगा ही रहता है। वास्तव में भारतीय किसान दीनता का जीवंत दस्तावेज़ है। भारतीय किसान अन्य देशों के किसानों की अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ है। कवि के लिए प्रसिद्ध देश की वर्तमान दशा उसकी प्रगति को नहीं पदन का सूचक है। इस पर अपना विक्षोभ प्रकट करते हुए राजेश जोशी लिखते हैं:-

“देश के बारे में लिखे गए हज़ारों निबन्धों में लिखा गया
पहला अमर वाक्य एक बार फिर दोहराता हूँ
भारत एक कृषिप्रधान देश है
दुबारा उसे पढ़ने को जैसे ही आँखें झुकता हूँ
तो लिखा हुआ पाता हूँ
कि पिछले कुछ परसों से डेढ़ लाख से अधिक किसानों ने
आत्महत्या की है इस देश में।”²

भारत में किसानों की आत्महत्या का विषय बहुत बड़ा और बहुत विचारणीय है। आज किसान खेती में जितना मूल्य, परिश्रम और समय लगाता है उसको उसका सही मूल्य नहीं मिलता है। किसान को उनकी मेहनत

1. लीलाधर मंडलोई -लिखे में दुःख, पृ. 52
2. कथादेश - मई 2012, पृ. 130

के बदले गरीबी ही मिल रही है। मेहनत किसी प्रकार से उसको लाभ नहीं दिला पाती है। किसानों पर बढ़ता कर्ज उनको आत्महत्या करने के लिए मजबूर कर देता है। बचपन से ही हम पढ़ते आ रहे हैं कि भारत एक कृषिप्रधान देश है। लेकिन देखना चाहिए है कि हमने उसे किस प्रकार की मान्यता दी है। किसान सिर्फ शब्द नहीं है यह एक एहसास है। हमारे लिए तो किसान अनाज उगा देते हैं मगर उन्हें खुद वही अनाज के लिए दर-दर भटकना पड़ता है, तडपना पड़ता है।

“इतिहास में यह समय
जितना विकास के लिए दर्ज होगा
उसके अधिक होगा अपनी विडम्बनों के लिए
और बारी उन विडम्बनाओं की पडताल की आएगी
तब जो सबसे ऊपर आएगा, उसमें होगा
अखबार में छपी किसानों की आत्महत्या का खबर
और यह कृषिप्रधान देश।”¹

किसानों की आत्महत्या, आत्महत्या न होकर हत्या ही है। सामाजिक स्थितियाँ उन्हीं आत्महत्या करने के लिए विवश कराते हैं। हरिश्चंद्र पाण्डे की कविता ‘किसान और आत्महत्या’ में इस दुःस्थिति का चित्रण मिलता है:-

“उन्हें धर्मगुरुओं ने बताया था प्रवचनों में
आत्महत्या करने वला सीधे नरक जाता है
तब भी उन्होंने आत्महत्या की

1. उमाशंकर चौधरी - कहते हैं तब शहंशाह सो रहे थे, पृ. 43

क्या नर्क से भी बदतर हो गई थी उनकी खेती

...

कितना असान है हत्या को आत्महत्या कहना
और दुर्नीति को नीति।”¹

आंकड़ों के अनुसार किसान आत्महत्या खबरे दिन ब दिन बढ़ रही है। महाराष्ट्र केरल आँध्रा प्रदेश और कर्नाटक में अन्य प्रदेशों की तुलना किसानों की आत्महत्या की संख्या अधिक है। पुराने समय में खेती करनेवालों को समाज में इज्जत मिलती थी। आत्महत्या की स्थिति नहीं थी। लेकिन उदारीकरण की नीतियाँ कृषि व्यवसाय को संकट में डाली। ब्रज श्रीवास्तव की कविता ‘बचपन में किसान’ में कवि कहते हैं कि उनके बचपन में किसान आत्महत्या की खबर सुनायी भी नहीं थी। बचपन बीत जाने पर भी किसान का कर्ज चुकाया नहीं है।

“मेरे बचपन में
इक्के दुक्के किसन भी
नाम नहीं जानते थे आत्महत्या का।”²

संक्षेप में कह सकते हैं कि देश का किसान गलत सरकारी नीतियों के कारण तड़प रहा है। यह बहुत शर्मनाक स्थिति है कि किसान आत्महत्या आज एक आम मुद्दा बन चुका है। इनकी हत्या ने तो लोकतंत्र के आगे बड़ा सवाल खड़ा कर दिया है। इसका दोषी असल में शासन तंत्र गलत नीतियाँ

1. kavitaakosh.com
2. kavitaakosh.com

बनानेवाले प्रशासनिक वर्ग ही है। देश की इज्जत को बनाए रखने में जिसका महत्वपूर्ण हाथ उनकी हत्या लगातार हो रही है। इसलिए इस पर गंभीरता से विचार करके समाधान ढूँढ निकालना जनतांत्रिक देश के लिए परम आवश्यक है।

कार्षिक वृत्ति का संकट

नई औद्योगिक नीति, आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण के दौर में किसान की स्थिति अत्यंत दयनीय हैं कार्षिक वृत्ति भी संकट में है। नई आर्थिक नीति में मुनाफा ही सब कुछ होता है। नब्बे के दशक में नई आर्थिक नीति लागू होने के बाद खेती की तरफ लोगों का ध्यान कम होने लगा। श्रमिक नौकरी की तलाश में गाँव छोड़कर शहर की ओर जाने लगा।

“गाँव के किसान
शहर की मिलों और फैक्टरियों में नज़र हुए
गाँव की बहु-बेटियाँ
शहर जाकर चौका-बर्तन करनेवाली
नौकरानियाँ हुई
गाँव के नौजवान पढ लिखकर
न किसान बन सके न कर्मचारी
एक अधकचरी-सी संस्कृति में फँसकर
फूलती रही उनकी साँस।”¹

राजनीतिक लोगों के लिए किसान लोग बहुत बड़ा वोट बैंक है।

1. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक, पृ. 130

इसलिए चुनाव के समय में वे किसानों की समस्याएँ पर चर्चाएँ करती हैं, उनके लिए नई नई नीतियों का निर्माण करता है। लेकिन चुनाव जीतने के बाद इन सभी बातों को वे भूल जाते हैं। कृषि संकट दूर करने के नाम पर किए जानेवाले उपायों का लाभ कम प्रतिशत किसानों को मिलता है। शासक वर्ग ही यह प्रचार करते हैं कि खेती फायदे का धंधा नहीं है। इसलिए अनेक किसान लोग अपनी ज़मीन को छोड़कर शहर की ओर जाते हैं। इस क्रम में लाखों किसान दूसरे काम -धंधे में लग गए। कुमार अंबुज की 'पुश्तैनी गाँव के लोग' नामक कविता इसी की ओर संकेत करती है।

“वहाँ के किसान है जो अब सोचते हैं
मज़दूरी करना बेहतर है
जबकि मनसून भी ठीक-ठाक ही है
पार पाने के लिए उनके बच्चों में से कोई एक
दो मील दूर सड़क किनारे प्रधानमंत्री योजना में
दूकान खोलेगा
और ब्याज और फिल्मी पोस्टरों से दूकान को भर लेगा।”¹

आर्थिक मानकों पर किसानों की स्थिति असुरक्षित है। कम आय, बढ़ती लागत और नीतिगत दुर्व्यवहार ने कृषि संस्कृति को संकट में डाल रही है। गरीबी के कारण किसान लोग खेती छोड़ने तक पहुँच गये हैं। खाद्य संकट की स्थिति उत्पन्न हुई है। अनाज के लिए दूसरे देशों पर निर्भर करना पडा। किसान जब खेती छोड़कर दूसरा काम ढूँढ रहा है और खेती की

1. कुमार अंबुज - अमीरी रेखा, पृ. 109

ज़मीन अन्य उद्योग के लिए सौंप रहे हैं। लीलाधर मंडलोई नष्ट होती खेती की भूमि के प्रति अपनी उदारता इस प्रकार प्रकट करते हैं:-

“मैं हर बरस लौटता हूँ
धरती के इस टुकड़े पर
जहाँ ईंट के भट्ठे लगे हैं
पहले यहाँ मेरा खेत था।”¹

किसान के लिए कार्षिक वृत्ति को छोड़ना अपनी आत्मा से अलग होने जैसा है। लेकिन कड़ी मेहनत करने के बावजूद भी किसानों की जीवन अभावों से ग्रस्त है। आर्थिक उदारीकरण के ज़रिए देश में सक्रिय हो रही बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ किसान से खेती हड़पने के लिए आ रही हैं। अब खेती कंपनियों के हाथों में चली जा रही है:-

“संकट बढ़ रहा है
छोटे-छोटे खेत अब नहीं दिखेंगे इस धरती पर
सौंप दो उन्हें अपनी छोटी छोटी ज़मीनें
मर्जो से नहीं तो ज़बरदस्ती छीन लेंगे वे
कॉरपोरेट आ रहे हैं
ज़मीनें सौंप देने के सिवा कोई और विकल्प नहीं तुम्हारे पास।”²

कृषि को उद्योग बनाने से, उत्पादन में वृद्धि ही मुख्य लक्ष्य बन गया है। रासायनिक खाद एवं कीटनाशकों के बहुत अधिक प्रयोग से मिट्टी, जल

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुःख, पृ. 37
2. कथादेश - मई 2012, पृ. 130

तथा वायु प्रदूषित एवं विषैले बन गए। चीज़ों पर किसान का अधिकार नष्ट हो गया। रासायनिक खाद, कीटनाशक एवं संकर बीज मिलकर ज़मीन को बंजर बना रहे हैं। परंपरागत बीजों के प्रयोग के बजाय इन बीजों के उपयोग करने से खेती को महंगा बना दिया।

“नन्दनवन अनिंद्य
जहाँ से निकलकर
आते हैं वे पुष्ट दुष्ट संकर बीज
भारत के खेतों पर छा जाने
दुबले एकल भारतीय बीजों को बहियाकर
आते हैं वे आक्रान्ता बीज टिड्डि दलों की तरह छाते आकाश
भूमि को अन्धराते/यहाँ की मिट्टी में जडे जमाने
फैलने-फूलने रासायनिक खादों
और कीटनाशकों के ज़हरीले संयंत्रों को
आयातित तकनीक आती है पीछे-पीछे
तुम्हारा घर उजाडकर अपना घर भरनेवाली आयातित
तकनीक।”¹

इस प्रकार समकालीन हिन्दी कविता आर्थिक उदारीकरण से रूपायित कृषि संकट की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति करती है। किसानों के क्षेत्र में पनपनेवाले बिचौलियों का यथार्थ प्रस्तुत करके उसके संरक्षण का एक दायित्व की तरफ पेश करते हैं।

1. ज्ञानेद्रपति - संशयात्मा, पृ. 120

निष्कर्ष

समय की विभीषिकाओं विद्रूपताओं का अंकन करना साहित्यकार का फर्ज है। आज का समय नवऔपनिवेश का है। जीवन के प्रत्येक पहलु पर इसका बुरा असर पड रहा है। इस भीषण संकट से अवगत हुए बिना बहुसंख्यक लोग इसमें फँसते जा रहे हैं। यहाँ समकालीन कवि का धर्म बनता है कि अपने समय के साथ सावधान रहना और दूसरों को इसके प्रति सचेत कराना। प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक पक्षों पर नव उपनिवेश के प्रभाव पर विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ कविता का सौन्दर्य नवऔपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति की भावना पर निहित है। क्योंकि यह मुक्ति की भावना असल में मानव के विवेक का परिणाम है। इस प्रकार काव्य सौन्दर्य के परंपरागत प्रतिमानों के बजाय नवीन प्रतिमानों, बिंबों, प्रतिकों, मिथकों के ज़रिए समकालीन कविता नवउपनिवेश की अमानवीयता को रोकती है।



पाँचवाँ अध्याय

समकालीन हिन्दी कविता में
प्रतिरोध की नयी काव्य भाषा

समकालीन हिन्दी कविता में प्रतिरोध की नयी काव्य भाषा

काव्य भाषा और प्रतिरोध

कवि अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए समुचित भाषा का प्रयोग करता है। प्रत्येक युग में कवि अपनी अनुभूतियों को जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करने के लिए विभिन्न प्रकार की भाषा शैली को अपनाता है। आदिकाल की भाषा में वीरता का आधिक्य होने के कारण उसे तलवार की शक्ति मिल गयी थी। भक्तिकालीन में भाषा का संबन्ध आध्यात्मिकता से रहा। रीतिकालीन साहित्य की भाषा शृंगारमयी थी। जिसमें आलंकारिक भाषा का प्रयोग अधिक हुआ है। आधुनिक काल में काव्य भाषा वीरता, आध्यात्मिकता एवं शृंगारिकता से मुक्त होकर जनजीवन से निकट की भाषा बन गयी। इसने हिन्दी काव्यभाषा के क्षेत्र में नवीन मोड उपस्थित कर दिया। समकालीन कविता की भाषा, अपने समय से जुड़ी हुई भाषा है। जिसमें समकालीनता के सारे के सारे लक्षण मौजूद हैं साथ ही समय की मुख्य विद्रूपताओं से हमें अवगत कराने की काम थी।

समकालीन साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है और समकालीन कविता प्रतिरोध की कविता है। यह, वर्तमान समय की असंगतियों को पर्दाफाश करते हुए उसके प्रति अपनी असहमति ज़ाहिर करनेवाली कविता है। 'प्रतिरोध' हर समय के साहित्य में भी मौजूद थे। लेकिन समकालीन साहित्य का प्रतिरोध अस्मिता-बोध या आत्मपहचान का परिणाम है। अपने समय की

सच्चाई को समझते हुए वहाँ हमारी हैसियत क्या है? इस सोच से उत्पन्न आत्म पहचान का प्रतिरोध हैं।

समकालीन हिन्दी कविता में दलित, स्त्री, आदिवासी, प्रकृति आदि हाशिएकृत समाजों के सजीव सान्निध्य है। पहले की कविताओं में श्रमिक या दमित लोगों के लिए मध्यवर्गीय लेखक कविता की रचना करते थे, लेकिन आज विषय और विषयी के बीच तादात्म्य स्थापित हुआ। स्त्री, आदिवासी, दलित जैसे हाशिएकृत पर वर्गों ने अपने जीवन और दर्शन को अपनी भाषा में लिखना शुरू कर किया। जिससे भाषा के स्वरूप में भी बदलाव आया। इसको जानने के लिए समकालीन काव्य भाषा पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। इसके साथ समकालीन कविता की शिल्प संरचना को अनोखा स्थान प्रदान करने में बिंब, प्रतीक, मिथक आदि का विवेचन भी ज़रूरी है।

स्त्री भाषा

स्त्री की भाषा पुरुष की भाषा से स्वभावतः भिन्न होती है। समाजिक संरचना में पुरुषसत्ता कायम होने के कारण काव्य भाषा का स्वरूप भी पुरुष वर्चस्व का रहा था। लेकिन वर्तमान समय में स्त्री लेखकों ने अपने स्वत्व से संबंधित संबोधित भाषा का निर्माण किया। इसका यह मतलब नहीं है कि स्त्री भाषा के लिए अलग शब्द संपदा है। स्त्री भाषा से तात्पर्य सिर्फ स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता को माननेवाली भाषा से है। समकालीन संदर्भ में स्त्री की

अस्मिता, उस का स्वत्व बोध और स्त्री संघर्ष के साथ भाषा का घनिष्ठ संबन्ध है। आम तौर पर स्त्री भाषा उसकी इयत्ता का सूचक है। उसका विश्लेषण पुरुष भाषा की संरचना में नहीं करना चाहिए। स्त्री भाषा को, पितृसत्तात्मक दबाव और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर पढ़ना चाहिए।

भाषा, अभिव्यक्ति का सरल माध्यम है। भाषा के द्वारा व्यक्ति, अपनी मानसिकता ही प्रकट करता है। समाज हमेशा पुरुषसत्तात्मक होने के कारण भाषा में भी उसका आधिपत्य रहा था। जब स्त्री कहती है तो पहचान बनती है और जब लिखती है तो अस्मिता का रूपायन है। लेकिन देखना चाहिए कि स्त्री किस भाषा में लिख रही है? लेखक या लेखिका का भाव या विचार अगर पितृसत्तात्मक ढाँचे में ढला है तो उसकी भाषा भी पुरुष की परंपरा से जुड़ती है। यह भी हो सकता है कि लेखिका अपने भाव और विचारों के माध्यम से पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती देती है और अपनी भाषा को पुरुष वर्चस्व से अलग रखती है तो वह स्त्री भाषा की परिधि में आ जाती है। स्त्री की अनुभूतियाँ पुरुष की अनुभूतियों से कई स्तरों से भिन्न हैं। इसलिए स्त्री मानसिकता की अभिव्यक्ति के लिए स्त्री भाषा का प्रयोग ही अधिक समीचीन रहेगा। प्रभा खेतान ने लिखा है:- “स्त्री लेखन और पुरुष लेखन में फर्क होता है और रहेगा। क्योंकि स्त्री और पुरुष आज भी इस पितृसत्तात्मक समाज में जैविक, आर्थिक, सामाजिक धरातल पर भिन्न हैं। सबसे पहले स्त्री रचनाकारों को इस केन्द्रीय समस्या के प्रति अवगत कराना होगा। परंपरा में मिले हुए शब्दों, मुहावरों एवं विचारों के केचुल को उतार फेंकना उसकी पहली ज़रूरत है।”¹

1. हंस - जून 1994, पृ. 65

स्त्री के भीतर चुप्पी की घुटन और जीने की ललक कभी चीख बन जाती है। स्त्रियाँ, अपनी भाषा को अपनी लड़ाई का माध्यम बना लेती हैं। स्त्री भाषा की बुनावट की पूरी प्रक्रिया अनामिका 'चिट्ठी लिखती हुई औरत' में इसप्रकार समझाती है:-

“औरतों के बारे में/ माना जाता है
कि वे/ चिट्ठियाँ लिखती हैं
धारावाहिक !
इतना उनके भीतक क्या है-
शताब्दियों का संचित/कि टीक राकस की
पड जाती है/उनकी बातों में
द्रौपदी की साडी हो जाती है
बातें उनकी।”¹

स्त्री की अनुभूतियाँ पुरुष से भिन्न स्थान रखनेवाली हैं। भिन्न इसलिए हैं कि स्त्री की अनुभूतियाँ दबी हुई मानसिकता का अंकन हैं। इन अनुभूतियों को घोषित करने का सशक्त माध्यम है - स्त्री भाषा। पुरुष जब स्त्री की अनुभूतियों का जिक्र करता है तब उसमें कल्पना का पक्ष ज़्यादा होता है या वह सहानुभूति में बदल जाता है। लेकिन जब स्त्री लिखती है तब वह भोगे हुए यथार्थ का अंकन होता है। स्त्री लेखन का केन्द्रीय बिंदु अनुभूति की वास्तविकता है।

स्त्री बोलने के अधिकार से सदियों से वंचित हैं। परिवार और समाज में स्त्री का बोलना उचित प्रतीत नहीं होता था। स्त्री को हमेशा चुप

1. अनामिका - कविता में औरत, पृ. 33, 34

रहने का पाठ ही सिखाया है। चुपी साधना स्त्री की शालीनता का लक्षण माना जाता था। वर्तमान समय में स्त्री उस चुप्पी को तोड़ती है। ममता कालिया कहती है:-

“जब भी सच बोलती हूँ/लोग ऐसे देखते हैं
जैसे गलत समय पर रेडियो खुल जाए।
जिन सवालों पर सच्चाई से मुंह बोला
उन पर बबाल मचा
जब-जब लगाई चुप/अच्छी औरत का खिताब मिला।
लोग कहते हैं / मैं अपना गुस्सा कम करूँ
समझदार औरतों की तरह सहेँ और चुप रहूँ।”¹

पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्री हमेशा पुरुष के अधीन में रहती है। स्त्री इस सामाजिक ढाँचे से मुक्ति चाहती है। आज की स्त्री उस कैद पंछी के समान है जो ऊँच आसमान में विचरण करना चाहती है। उड़ने की क्षमता होने के बावजूद भी परंपरा उसे बंधन में रखी थी। वर्तमान दौर में भी स्थिति पूर्ण रूप से बदली नहीं। बहुत सी स्त्रियाँ उसी प्रकार हैं, जिसमें सारी क्षमताओं के बावजूद भी वह व्यवस्था के पिंजरे में रहना पसंद करती है। ‘स्त्री विमर्श’ नामक कविता इस बन्धन से मुक्त होकर अपने आसमान में उन्मुक्त होकर भ्रमण करने का संदेश देनेवाली है:-

“मिल जानी चाहिए अब मुक्ति स्त्रियों को
आखिर कब तक विमर्श में रहेगी मुक्ति

1. ममता कालिया - खौटी घरेलू औरत, पृ. 14

बननी चाहिए एक सडक, चलें जिस पर सिर्फ स्त्रियाँ ही
 मेले और हाट बाज़ार भी अलग
 किताबें अलग, अलग हो गाथाएँ
 इतिहास तो पक्के तौर पर अलग।”¹

कात्यायनी की कविताओं में स्त्री की प्रतिरोधी भाषा का स्वर बहुत ही सशक्त है। ‘इस स्त्री से डरो’ नामक कविता में कवयित्री कहती है कि अब वे अपनी पीछे चल रही सारे षड्यंत्रों को जानती है। इसलिए इस स्त्री से डरना चाहिए। वह पहले की तरह अन्याय को सहनेवाली नहीं है। प्रतिरोध अवश्य करेगी।

“यह स्त्री / सबकुछ जानती है
 पिंजरे के बारे में / जाल के बारे में
 यंत्रणागृहों के बारे में

 रहस्यमय है इस स्त्री की उलटबासियाँ
 इन्हें समझो।
 इस स्त्री से डरो।”²

स्त्री, कविता के माध्यम से अपनी संवेदनाओं को दुनिया के हर आदमी के पास पहुँचाना चाहती हैं। यह उनकी विशाल दृष्टि का सूचक है। वह अपनी सीमित दुनिया से बाहर आना चाहती है। अपनी अस्मिता को बनाये रखना चाहती है। कात्यायनी के शब्दों में:-

-
1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ. 42
 2. कात्यायनी - जादू नहीं कविता, पृ. 87

“वे
 हमें
 हमारे वजूद की
 याद दिलाते हैं
 एहसास कराते हैं
 एक वजूद वाली औरत को
 प्यार करने का
 उस पर काबूपाने का
 मज़ा दी कुछ और है।”¹

स्त्री चाहती है कि उसके शब्द नगाडे की तरह बजे रहें। वह अपने आसपास फैली हुई खामोशी को तोड़ना चाहती है। वह अपनी कविता के माध्यम से संवेदनाओं को इकट्ठा करना चाहती है, सक्रिय आन्दोलन उत्पन्न करना चाहती है। निर्मला पुतुल कहती है कि:-

“मैं चाहती हूँ
 मेरे शब्दों की ज़मीन से
 उगें कई-कई बिरसा मुंडा
 ...मैं चाहती हूँ
 आँख रहते अंधे आदमी की
 आँख बनें मेरे शब्द उनकी जुबान बनें
 जो जुबान रहते गूंगे बने
 देख रहे हैं तमाशा
 चाहती हूँ मैं
 नगाडे की तरह बजे मेरे शब्द

1. कात्यायनी - जादू नहीं कविता, पृ. 33

और निकल पड़ें लोग
अपने-अपने घरों से सड़क पर।”¹

स्त्री की अनुभूतियाँ इतनी गहरी होने के कारण, वह कविता में अपने परिवेश और जीवन से उद्भूत प्रतीकों और बिंबों का प्रयोग करती है। यह उनकी भाषा के लिए नवीन अर्थभंगिमाएँ प्रदान करती है। स्त्री कविताओं का उद्देश्य कला का आस्वादन के साथ सामाजिक परिवर्तन भी है। स्त्री कविताओं में प्रयुक्त बिंब हो या प्रतीक, पाठक को सोचने के लिए विवश कराते हैं। स्त्री जीवन के अधिकांश समय रसोई के भीतर ही होता है। इसलिए ही अनामिका ने स्त्री जीवन की तुलना कैसरॉल में बंद पड़ी अंतिम रोटी से की है:-

“मैं कैसरॉल की अंतिम रोटी हूँ
कैसरॉल में बंद पड़ी हूँ अब तक।”²

समकालीन हिन्दी कविता में ‘ढाबे’ को लेकर कविता लिखनेवाली पहली कवयित्री होगी नीलेश रघुवंशी जी। स्त्री जीवन ढाबे की आग में तपती है, रोटी और सब्जी से उठती भाप से चलती है। प्रस्तुत कविता में स्त्री जीवन की ऊष्मा प्रकट होती है। नीलेश रघुवंशी जी कहती है:-

“ढाबे पर सिंकती रोटियाँ की महक
और तपेले से उठती सब्जी की भाप से चलती थी हमारी सांसे
बने इसी भाप से बच्चों के खिलौने

-
1. निर्मला पुतुल - अपने घर की तलाश में, पृ. 101-102
 2. अनामिका - दूब-धान, पृ. 84

तपते थे आग में हमारे चेहरे
थकते थे पाँवों के साथ-साथ कंधे।”¹

इसके अलावा ‘हंडा’, दाँत, ‘मेंहदी’, ‘बिना टिकट की यात्रा करती लडकी’ आदि कविताओं स्त्री के जटिल जीवन का सहज बिंब है।

स्त्री अपनी निजी अनुभवों को, भोगे हुए यथार्थ को कविता में उतारने का प्रयास करती है, जिन्हें कोई भी पुरुष नहीं लिख सकता। प्रसव पीडा, मासिक स्राव जैसी अनुभूतियाँ स्त्री की अपनी होती है। जब स्त्री इसके बारे में लिखती है तो कविता में क्षेत्र में नये सौन्दर्य शास्त्र का घटन होता है। नीलेश रघुवंशी के ‘पानी का स्वाद’ नामक काव्य संग्रह में स्त्री की गर्भवती होने से लेकर बच्चा पैदा होने तक की स्थितियों का चित्रण मिलता है। कवयित्री कहती हैं कि अगर बच्चा लडका हो तो कभी नहीं जानती इस प्रसव पीडा। लेकिन लडकी हो तो जन्म से ही शुरू होती है उनकी यातनाएँ:-

“कितना आसान है कहना - जन्म देना सृष्टि का सबसे सुखद
कार्य है
लेकिन कितना मुश्किल है जन्म देना
यह पीडा, यह कष्ट तुम क्या जानो
वैसे भी अगर तुम लडका हुए तो नहीं जान पाओगे कभी भी
और अगर लडकी हुए तो
कैसे सहोगे इतना कष्ट?”²

संक्षेप में कह सकते हैं कि समकालीन स्त्री कविता की भाषा में

-
1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ. 87
 2. वही - पृ. 87

प्रतिरोधी स्वर काफी बुलंद है। स्त्री अब किसी के अधीन में नहीं, स्वावलंबी एवं स्वतंत्र भी है। अपनी अस्मिता के लिए, उसे बनाये रखने के लिए वह प्रतिरोध करने में संकोच नहीं करती। स्त्री भाषा में चीख है, चुप्पी है, पूर्णता है। इस प्रकार स्त्री कविता भाषा के ज़रिए उसके प्रतिरोध के बहुआयामी संदर्भों का परिचय मिलता है। अस्मिता की चिंता, अनुभूति की ईमानदारी अभिव्यक्ति की तीक्ष्णता आदि स्त्री भाषा की उल्लेखनीय विशेषताएँ होती हैं।

दलित भाषा

काव्य भाषा को दो तरह से बाँटा जा सकता है - दिल को छू लेनेवाली भाषा और दिल को दहलाने वाली भाषा। प्रथम कोटी की भाषा में आलंकारिक या रमणीय शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो दूसरी भाषा में यथार्थ का अंश ज़्यादा होता है। दलित साहित्य की भाषा में रमणीय और काल्पनिक शब्दों का अभाव है। इसलिए कह सकते हैं कि दलित कविता में आक्रोश विद्रोह और प्रतिरोध की भावना ज़्यादा होती है। इसलिए वह दिल को दहलानेवाली भाषा होती है।

दलित लेखकों ने अपने दुःख एवं दर्द की अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा और अपने अलग सौन्दर्य बोध का निर्माण किया। दलित कविता में परंपरागत सौन्दर्य को खोजना बेईमानी है। क्योंकि इस कविता के केन्द्र में दमित, शोषित, पिछड़ा, उत्पीड़ित समाज है। इनका सौन्दर्य भूखे पेट को भरने के लिए साधन जुटाने में समाहित हो जाता है। वह अपने

उपयोग की वस्तुओं में अपना सौंदर्य देखता है। इसप्रकार दलित कविता के माध्यम से कवि सौंदर्य का नया विधान रचते हैं। प्रसिद्ध समालोचक हरिनारायण ठाकुर का कथन है:- “दलित साहित्य ने परंपरागत तत्सम प्रधान, संस्कृतनिष्ठ भाषा, काव्यशैली और प्रस्तुतीकरण को नकारकर जनसामान्य के समझने लायक सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। वह ऐसी भाषा का इस्तेमाल करता है जो दलितों की पीड़ा, अपमान और व्यथा तथा जनसामान्य की आशा-आकांक्षाओं के यथार्थ को सही अभिव्यक्ति दे सके। इसलिए इसमें कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हो जाता है, जो साहित्य के लिए अश्लील और वर्जित रहे हैं।”¹

दलित कविता के मूल में दलित चेतना है। सामाजिक परिवर्तन ही इसका मुख्य लक्ष्य है। दलित कविता की भाषा सभ्य समाज के लिए असुंदर है, कुरूप है। उसे वे आलंकारिक नहीं मानते। दलित कविता सौंदर्य अपने अलग सौंदर्यबोध का निर्माण करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकी ‘शम्बूक का कटा सिर’ कविता में कहते हैं कि :-

“मेरे शब्द पंख कटे पक्षी की तरह
तडप उठते हैं-
तुम अकेले नहीं मारे गये तपस्वी
यहाँ तो हर रोज़ मारे जाते हैं असंख्य लोग
जिनकी सिसकियाँ घुटकर रह जाती है
अंधेरे की काली पतों में।”²

-
1. हरिनारायण ठाकुर - दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ 37
 2. ओमप्रकाश वाल्मीकी - सदियों का संताप, पृ. 26

दलित कवि अपने सामाजिक यथार्थ के प्रति सचेत है। जब उसका अंकन कविता में होता है तो सामाजिक व्यवस्था ही हिल उठती है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलितों की स्थिति बहुत ही दयनीय थी। दलित जनता हर काल में, हर युग में असमानता, शोषण एवं अन्याय का शिकार होते हैं। इस असमानता पर अपना प्रतिरोध ज़ाहिर करते हुए जयप्रकाश कर्दम जी कहते हैं:-

“तुम कोठी-बंगलों में रहते
मैं रहता झोपड पट्टी में
तुम ए.सी. कूलर में सोते
मैं तपता श्रम की भट्टी में
तुम दूध-मलाई में नहाओ
मैं रोटी को मुंहताज रहूँ
तुम मालिक मैं नौकर ठहरा
फिर समता का संसार कहाँ है?”¹

भारत एक जनतांत्रिक देश है। लेकिन यह जनतांत्रिक या समानता केवल संविधान में ही है। व्यवहार में नहीं। जाति से निम्न, आर्थिक स्थिति से निम्न जनता सदियों से असमानता सहकर जीनेवाले हैं। अब के समय वे लोग इन्हीं अमानवीय व्यवहारों के ऊपर सवाल करते हैं, प्रतिरोधी आवाज़ उठाते हैं।

1. जयप्रकाश कर्दम - गूँगा नहीं था मैं, पृ. 38

दलित जनता पहले की तरह अशिक्षित नहीं है। शिक्षा ने आज उनमें आत्मबल भर दिया। वे अब अन्याय और अत्याचार का विरोध कर रहे हैं। वे अपने संघर्ष को जीवन की यातनाओं को अपनी कलम द्वारा समाज के सापेक्ष रखते हैं। 'प्रतिशोध' नामक कविता में 'कुसुम वियोगी' लिखती हैं:-

“अब हम आज़ादी की सांस लेना सीख रहे हैं।
 युग बदला है
 परिभाषाएँ बदली है
 खून बदला है, जुनून बदला है
 अब उनकी बंदूकें
 हमारी छातियों पर नहीं तनेंगी
 वरन् हम ही फटेंगे, बनके बारूद'
 जब तुम्हारे घर-बस्तियों व आंगन में
 लेने को प्रतिशोध
 सोचो ! तब तुम्हें कैसा लगेगा ?”¹

दलित अब गूँगा नहीं है। उसने हिंसा को पहचान लिया। इसलिए उनकी भाषा में 'नकार' की अभिव्यक्ति होती है। ये 'नकार' उनमें भरी हुई आत्मविश्वास का परिणाम है। इसलिए कह सकते हैं कि पहले जो दलित कविताओं में वेदना या आक्रोश का स्वर है तो अब में वह 'नकार' में बदल गया। यह नकार भी प्रतिरोध का विकसित रूप है। इससे वर्तमान का बोध होता है। कवि के विचार में:-

1. यथावत - प्रतिशोध, पृ. 90

“तुम्हारे रचे शब्दों के
 सीने पर चढकर
 बजाऊँगा डंका
 विजयश्री का
 क्योंकि
 अब मैं गूँगा नहीं।”¹

दलित काव्यभाषा में प्रयुक्त प्रतीक एवं बिंब कविता के नये सौन्दर्य बोध को द्योतित करते हैं। इस संदर्भ में जयप्रकाश कर्दम का कहना है कि:-
 “इसने संघर्ष की एक नई ज़मीन तैयार की है तथा एक नए सौन्दर्य बोध का निर्माण किया है, जिसका आधार श्रम, शोषण, संघर्ष, स्वप्न और जिजीविषा है। इस सौन्दर्यबोध के अपने प्रतिमान हैं - भूख, श्रम, संघर्ष परिवर्तन, पक्षधरता या लोकजीवन की गाथाओं के नए बिंब, प्रतीक, उपमाएँ होती है, जो सुख ऐश्वर्य, भोग विलास और यथास्थिति या वैदिक-पौराणिक गाथाओं आदि में चित्रित बिंब, प्रतीक और उपमाओं से भिन्न हैं।”² मलखान सिंह ‘सफेद हाथी’ नामक कविता में अपनी बस्ती का एक चित्रण करता है जहाँ सुअर और मनुष्य जीवन में कोई भेद नहीं है:-

“गाँव के दक्खिन में
 पोखर की पार से सटा
 यह डोम पाडा है
 जो दूर से देखने में ठेठ मेढक लगता है

-
1. सूरजपाल चौहान - क्यों विश्वास करूँ, पृ. 19
 2. सं. प्रामेद कोवप्रत - हिन्दी दलित साहित्य का विकास, पृ. 31

और अंदर घुसते ही
सुअर की खुडारों में बदल जाता है।”¹

दलित कवि वेदों को नहीं मानते हैं, क्योंकि उसमें जो कुछ लिखा हुआ है, वह ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मणों के लिए ही है। उसमें दलितों के हित के बारे में कुछ नहीं बताते हैं। इसलिए दलित कवि वह लिखना चाहते हैं, जो वेदों में नहीं है। कवि स्वर्ण सिंह के शब्दों में:-

“मैं लिखना नहीं जानता, अलंकार के भेद
मैं वही लिखता हूँ जिसे लिख नहीं पाए वेद”²

दलितों में अब अधिकार चेतना पैदा हुई है। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लिए वह कमर कस रहा है। वर्तमान समाज उन्हें छोटे-मोटे अधिकार या सुविधाएँ देकर तृप्त कराने का प्रयास करते हैं लेकिन वे उनसे तृप्त नहीं होते। उन्हें अपना अधिकार समग्रता में चाहिए, अनंत की संभावनाओं के साथ। कवि का कहना है कि:-

“छत का खुला आसमान नहीं
आसमान की खुली छत चाहिए
मुझे अनंत आसमान चाहिए।”³

जिन समाज सुधारकों ने रामराज्य की संकल्पना को आदर्श माना है, उसे दलित जनता मानने के लिए तैयार नहीं है। वे मानते हैं कि रामराज्य

-
1. मलखान सिंह - सुनो ब्राह्मण, पृ. 12
 2. रजत रानी 'मीनू' - हिन्दी दलित कविता, पृ. 94
 3. सुशील ठाकभौरे - स्वामि बूँद और खारे मोती, पृ. 1

में शूद्रों के लिए कोई स्थान नहीं थे। इसलिए ही वे राम द्वारा शूद्र ऋषि 'शम्बूक की हत्या' को दलित चेतना की हत्या मानते हैं। दलित कवि 'शम्बूक' के मिथक को दलित संवेदना के साथ जोड़कर प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं। कंवल भारती की 'शंबूक' नामक कविता पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:-

“शंबूक... तुम्हारी हत्या
दलित चेतना की हत्या थी
स्वतंत्रता, समानता और न्यायबोध की हत्या थी
किंतु शंबूक
तुम आज भी सच हो
आज भी दे रहे हो शहादत
सामाजिक परिवर्तन के यज्ञ में।”¹

दलित साहित्य की शिल्प संरचना के बारे में डॉ. एन. सिंह का कहना है:- “दलित साहित्य का शब्द सौन्दर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही सड़ी-गली परंपराओं पर बेदर्दी से चोट करता है। वह शोषण और अत्याचार के बीच हताश जीवन जीनेवाले दलित को लडना सिखाता है, वह सिर पर पत्थर ढोनेवाली मज़दूर महिला को उसके अधिकारों के विषय में बताता है। उसके लिए जिस शाब्दिक प्रहार की आवश्यकता है, वह उसमें है, और यही दलित साहित्य का शिल्प सौन्दर्य है।”² दलित कविता में दलित जीवन की यातनाओं का

1. कंवल भारती - तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती, पृ. 49

2. डॉ. एन. सिंह - दलित प्रवाह और साहित्य तटबन्ध शिखर की ओर, पृ. 353

चित्रण है। इन यातनाओं के वर्णन के साथ कवि अपने प्रतिरोध को भी प्रकट करते हैं। जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता 'ढोल' में दलित की तुलना 'ढोल' से करते हैं, यह 'ढोल' शब्द दलित जीवन की समग्र यातनाओं को प्रेषित करने में सक्षम है:-

“मैं हूँ ढोल
चमड़े से मढ़ा काठ का खोल....
मुझ पर पडनेवाली प्रत्येक चोट
बनती है जख्म मेरे जिस्म पर
जितनी तगड़ी चोट
उतना गहरा जख्म
उतनी ऊँची चीख
आनंदित होते हैं वे जिस पर।”¹

अंततः कहा जा सकता है कि समकालीन दलित कविता में दलित मुक्ति के साथ उनकी प्रतिरोधी भावना भी स्पष्ट झलकती है। इस प्रतिरोध की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने विशिष्ट भाषा को अपनाया था। यह भाषा सवर्णों द्वारा स्थापित भाषा से पूर्णतया मुक्त होकर तार्किकता के धरातल पर खड़ी होती है।

आदिवासी भाषा

आदिवासी कविता, जल-जंगल-ज़मीन से जुड़े आदिवासी जीवन की सफलतम अभिव्यक्ति है। आदिवासी जीवन के भीतरी और बाहरी संघर्ष

1. डॉ. जयप्रकाश कर्दम - बस्तियों से बाहर, पृ. 12

को कवि सर्वदा सहज भाषा के माध्यम से कविता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। आदिवासी साहित्य का आरंभ मौखिक परंपरा से शुरू होता है क्योंकि अशिक्षा के कारण पहले उनकी भाषा के लिए कोई लिपि विकसित नहीं हुई थी। शिक्षा प्राप्ति के बाद आदिवासी जनता ने, अपनी जीवन संघर्ष को अपनी ही भाषा में साथ ही अन्य भारतीय भाषाओं में लिखना शुरू किया। अब आदिवासी साहित्य या विशेषकर कविता की मूल चेतना उनका प्रतिरोध ही है। समकालीन आदिवासी कविता में कहीं व्यंग्य का प्रयोग है, कहीं देहाती मुहावरे और जन भाषा के शब्दों का प्रयोग है तो कहीं आक्रोश और चेतावनी की भाषा भी देखने को मिलती है। आदिवासी कविता हमेशा अमानवीयता और शोषण के प्रतिरोध में खड़ी है। निर्मला पुतुल अपनी कविता के माध्यम से कहती हैं कि:-

“मैं चुप हूँ तो मत समझो की गूँगी हूँ
या की रखा है मैंने रखा है आजीवन मौन व्रत
गहराती चुप्पी के अंधेरे में सुलग रही है भीतर
जो आक्रोश की आग।”¹

आदिवासी जनता सदियों से जंगल में रहते आये हैं। उनका जीवन प्रकृति के साथ मिलकर ही विकसित हुआ है। इसलिए प्रकृति पर होनेवाले अत्याचार को उसे वह सह नहीं पाता। आज विकास के नाम पर जंगल को काटे जा रहे हैं, वे विस्थापित होते जा रहे हैं। आदिवासी प्रकृति की रक्षा की बात करती है। प्राकृतिक शोषण के विरोध में कविताएँ लिखती है। महादेव टोप्पो कहते हैं:-

1. निर्मला पुतुल - नगाडे की तरह बजते शब्द, पृ. 56

“वह धनुष उठाएगा
 प्रत्यांचा पर कलम चढाएगा
 साथ में बाँसुरी और मांदर भी ज़रूर उठाएगा
 जंगल के हरेपन को बचाने के खातिर
 जंगल का कवि
 मांदर बजाएगा
 चढा कर प्रत्यांचा पर कलम।”¹

आदिवासी अब अपनी हताशा, विवशता, विषमता को प्रस्तुत करने के साथ अपने अधिकार को पाने के लिए प्रतिरोध करना भी शुरू किया है। उन्हें स्पष्ट रूप से मालूम है कि प्रतिरोध के बिना रहने पर उनकी अस्मिता एवं अस्तित्व संकट में पड जाएगा। अनुज लुगुन अपनी कविता के माध्यम से इस प्रतिरोधी चेतना को जगाने का प्रयास करते हैं:-

“ओ मेरी युद्धरत दोस्त !
 तुम कभी हारना मत
 हम लडते हुये मारे जायेंगे
 उन जंगली पगडंडियों में
 उन चौराहों में
 उन घाटों में
 जहाँ जीवन सबसे अधिक संभव होगा।”²

वर्तमान समय में मुख्यधारा समाज द्वारा आदिवासी संस्कृति को मिटाने की कोशिश निर्मम रूप में हो रही है। आदिवासी जनता, जंगल की

-
1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, पृ. 47
 2. हरिराम मीणा - समकालीन आदिवासी कविता, पृ. 17

मिट्टी में और उस परिवेश में ही अपने अस्तित्व को देखते हैं। वे अपनी भाषा को, संस्कृति को तथा वीरता को बचाना चाहते हैं। संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल अपनी पहचान रूपी प्रकृति को बचाने का आह्वान देते हुए कहती हैं:-

“अपने चेहरे पर
संथाल परगाना की माटी का रंग
भाषा में झारखंडीपन
जंगल की ताज़ा हवा
नदियों की निर्मलता
पहाड़ों का मौन
गीतों की धुन
मिट्टी का सौंधापन
फसलों की लहलहाट।”¹

आदिवासी जनता ने आज कलम की शक्ति को पहचान लिया। उन्होंने अपनी कलम को ही ‘तीर’ बना डाला। ‘कलम’ में व्यवस्था को बदलने की क्षमता है। वे अपने ऊपर चल रहे अन्याय के प्रति अवगत हैं। इसलिए वे अपनी कलम के माध्यम से उसका प्रतिरोध करते हैं। ग्रेस कुज़ूर ने कहा कि ‘कलम को तीर होने दो’।

“क्या कर लेंगी उनका
बन्दूक और गोलियाँ
लाँघते ही देहरी

1. निर्मला पुतुल - नगाडे की तरह बनते शब्द, पृ. 77

हज़ारों कहानियाँ
 नस-नस दे गयी कमान, सब लहू तीर
 देखना बाकी है कलम को तीर होने दो!”¹

आदिवासी कविता में उनकी जागरूकता व्यक्त होती है। शिक्षित आदिवासी धीरे-धीरे यह पहचान लिया है कि जागने का वक्त आ गया, अब भी नहीं हुआ तो, उनकी मुक्ति कभी भी संभव नहीं होगी। आदिवासी स्वभाव के अत्यंत भोले-भाले होते हैं। इसलिए दूसरे लोग इसका फायदा उठाते हैं। निर्मला पुतुल ने इसके प्रति सचेत होने की बात यों की है:-

“इस खतरनाक शहरी जानवरों को
 पहचानों चुडका सोरेन
 पहचानों !!
 पांव पसाने जो तुम्हारे ही घर में
 घुल कर बैठे हैं
 तुम्हारे भोलेपन की ओट में
 इस पेचदार दुनिया में रहते
 तुम इतने सीधे क्यों हो चुडका सोरेन?”²

आदिवासी समुदाय की स्त्री की शौर्य दिखानेवाली कविता है अनुज लुगुन की ‘उलगुलान की औरतें।’ वे एक ही समय में खूबसूरत भी है और खतरनाक भी है। विपरीत परिस्थितियों में भी वे हारने को तैयार नहीं होती। उलगुलान में पुरुष के साथ मिलकर लडती है।

-
1. सं. रमणिका गुप्त - कलम को तीर होने दो, पृ. 11
 2. सं. हरिराम मीणा - समकालीन आदिवासी कविता, पृ. 29

“वे उतनी ही लडाकू थी
 जितना कि उनका सेनापति
 वे अपनी खूबसूरती से कहीं
 ज़्यादा खतरनाक थी
 अपने जूड़े में उन्होंने
 ‘सरहुल’ और ईचा. बा की जगह
 साहस का फूल खोसा था।”¹

आदिवासी एक विशेष प्रदेश में रहनेवाले हैं। उनकी संस्कृति भी अलग है। इसलिए स्वाभाविक है उनकी कविताओं में देशज शब्दों का उपस्थित होना। ‘भखरी’, ‘ठेंपी’, ‘छिनगा’, ‘बोंहगा’, ‘मेरा’ ‘सरहुल’ ईचा: बा ‘आजी’, ‘जांत’ जैसे अनेकानेक शब्दों का प्रयोग आदिवासी कविता में है।

जल, जंगल और ज़मीन के प्रति प्रेम आदिवासी जीवन का ही अंग है। आदिवासी कविता, लाभ के लिए प्रकृति का शोषण करनेवाले ताकतों के खिलाफ है। ‘अघोषित उलगुलान’ नामक कविता में कवि अनुज लुगुन ने इस बात को ही रखा है। आदिवासी आज इस द्वन्द्व से गुज़र रहे हैं कि जल, जंगल और ज़मीन के बगैर विकास की रास्ता को अपनाना है या और कोई।

“लड रहे हैं आदिवासी
 अघोषित उलगुलान में
 कट रहे हैं वृक्ष
 माफिया की कुल्हाड़ी से

1. सं. रमणिका गुप्ता - कलम को तीर होने दो, पृ. 56

और बड रहे हैं कंक्रीट के जंगल
 दान्डू जाये, तो कहाँ जाये ?
 कटते जंगल में
 या-
 बढते जंगल में... ?”¹

इसप्रकार कह सकते हैं कि आदिवासी कविता, प्रतिरोध की कविता है। वे शोषण के विविध रूपों को अभी पहचानने लगे। आदिवासी जीवन को लेकर समकालीन समय में अनेक लोग रचनाएँ करते हैं, लेकिन आज आदिवासी स्वयं अपनी कलम उठाकर जीवन को रचते हैं, प्रतिरोध कर रहे हैं अपनी भाषा में।

काव्य भाषा में नवऔपनिवेशिक रूप

वैश्वीकरण की नाना गतिविधियों ने निश्चित रूप से काव्यभाषा और शिल्पगठन को भी प्रभावित किया। कविता के क्षेत्र में आये परिवर्तन की ओर इशारा करते हुए प्रियदर्शन कहते हैं कि :- “इस ग्लोबल समय में कविता बहुत बदल गई है, हमारा समाज भी बदल गया है। बदलाव की यह गति इतनी तेज़ है कि इस पर उँगली रखना मुश्किल है। इस तेज़ी से भागते समय में कविता एक ही साथ जैसे बहुत सारे कालखंडों में और अलग-अलग भू-दृश्यों में जीने-सांस लेने लगी है। यह कविता एक साथ बहुत सारे पाठों को आमंत्रित करती है। तेज़ी से बदलते हुए समय पर भी इसकी आँख है और न बदलने को तैयार, ठहरी हुई दुनिया पर भी। इस कविता को पढने

1. सं. रमणिका गुप्ता - कलम को तीर होने दो, पृ. 66

केलिए बहुत संवेदनशील और चौकत्री चाहिए।”¹ इसका आशय यह है कि ग्लोबल समय में लिखित कवि के पास पारदर्शी शब्द है जो वर्तमान समय को अंकित करने में सक्षम है। भूमंडलीय कविता, काव्य की दुनिया में नया सौन्दर्य रचती है और नये शिल्प विधान की सृष्टि भी करती है।

काव्यभाषा में अनुगूँजित भूमंडलीय प्रभाव को समझने के लिए इस समय में लिखित कुछ काव्यसंग्रहों का शीर्षक ही काफी है। इन शीर्षकों में जो प्रतीकात्मकता है वह वर्तमान समय के संकट को द्योतित करते हैं। इन शीर्षकों से भूमंडलीय काव्यभाषा के नए मुहावरों की पहचान होती है - ‘नये युग में शत्रु’, ‘दुष्चक्र में स्रष्टा’, ‘नए इलाके में’, ‘दुनिया रोज़ बनती है’, ‘क्रूरता’, ‘अनंतिम’, ‘पुतली में संसार’, ‘काला बाँक तिरछा’, ‘संशयात्मा’, ‘इस पौरुषपूर्ण समय में’, ‘खुरदुरी हथेलियाँ नेपथ्य में हँसी’, ‘अपना जैसा जीवन’, ‘घर-निकासी’ आदि। इन सभी शीर्षकों में समय की आहटें मुखरित हैं। समकालीन कविता की भाषा में किसी भी तरह की जटिलता नहीं है। इसमें अनगढ़ समय को सहजता से गढ़ने की क्षमता बरकरार है।

लोकभाषा

समकालीन कविता में लोकजीवन बहुतायत से चित्रित है। उसकी समग्र अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने लोक एवं स्थानीय धरातल की शब्दावली का प्रयोग किया है। लोक की भावना का आस्वादन जो भी व्यक्ति करता है, वह उसे अपनी सी लगती है। यह आत्मीय भावबोध लोक की अपनी

1. प्रियदर्शन - ग्लोबल समय में कविता, पृ. 48

विशेषता है। समकालीन हिन्दी कविता में लोक भाव और भाषा का सफल प्रवाह है। लोक भाषा और भाव जगत कविता में इतना घुलमिल दिखता है कि इसे अलग करने पर कविता की निरर्थक या जड़ हो जाती है। नव उपनिवेशवाद के चकाचौंध, साहित्य की सहजता को नष्ट कर रही है। मानव जीवन यांत्रिक होते जा रहे हैं। इसलिए आज की कविता में लोकचेतना की धडकन को जतानेवाले शब्द, मिट्टी और स्थानीय वातावरण के प्रति आकर्षण की भावना गतिशील रूप में है।

मदन कश्यप ने अपने एक काव्य संकलन के लिए 'कुरुज' नाम दिया है। यह बहेलियों की भाषा का शब्द है। उसमें 'कुरुज' एक जगह का सूचक है। जहाँ विशेष मौसम में परिन्दे इकट्ठे होकर अपने पुराने पंख झाडते है और गर्भधान करते हैं:-

“यह शब्दों का कुरुज है
अपने पुराने पंख झाड रहे हैं शब्द।”¹

मतलब यह है कि कवि अपनी वाणी को परिष्कृत करना चाहते है। वर्तमान से लड़ने के लिए भाषा को ताकतवर होना आवश्यक है। परिष्करण और ताकतवर बनाने की कोशिश कवि लोक के विस्तृत आलोक में करते हैं। जहाँ इन सब के लिए समाधान है। एकान्त श्रीवास्तव ने अपनी एक कविता का नाम 'अब मैं घर लौटूँगा' दिया है। यहाँ एकान्त जी की संकल्पना

1. मदन कश्यप - कुरुज, पृ. 24

भी मदन कश्यप से मिलनेवाली है:-

अब मैं घर लौटूँगा
और अपनी अधूरी पड़ी कविताओं को
पानी में सींझते खेतों की गीली महक से भर दूँगा।”²

“गाँव का बीजगणित’ काव्य संग्रह में कवि कुमार कृष्ण ने भी अनेक ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है। ‘लेवा’ (फटे-पुराने वस्त्रों से सोने के लिए बनायी गयी तलाई और रजाईनुमा वस्त्र) ‘ठल्कू’ (जो फटे-पुराने वस्त्रों से बच्चों को सोने के लिए बनाया गया तलाईनुमा वस्त्र) आदि इसका उदाहरण है।

लोक भाषा के ज़रिए कवि लोक की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देते हैं। यह अनुभूति बहुत ही सहज अनुभूति है, गढी हुई नहीं है। आज हम वैश्वीकरण के पीछे भाग रहे हैं। लोकचेतना ही हमें अपनी जड़ों से, परंपरा से और सामाजिकता से जोड़ देती हैं। इस परंपरा की निरंतरता को लोक के आत्मीय धरातल पर बनाए रखने में लोक भाषा का विशेष महत्व है।

काव्य भाषा का प्रकृति बोध

पूँजीवादी संस्कृति ने मानव के संस्कार जन्य भाषा को तोड़ मरोड़ दिया है। भाषा की सहजता के स्थान पर कृत्रिमता सब कहीं व्याप्त है।

1. एकान्त श्रीवास्तव - मिट्टी से कहुँगा धन्यवाद - पृ. 63

इसलिए ही समकालीन कवि, काव्यभाषा में पर्यावरण बोध की भावना भरकर मानव को उसके आत्मीय संस्कार से जोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। प्रकृति से मिली भाषा में कृत्रिमता नहीं, सहजता है। यह मनुष्य-मनुष्य को आपस में जोड़ती है। प्रकृति के साथ मिलकर एक सन्तुलित जीवन जीने की बात कहती है। इसलिए वर्तमान समय में भाषा चमत्कार प्रदर्शन का साधन न होकर सीधे हृदय से निकलनेवाली प्रतीत होती है। मानव कल्याण के साथ प्रकृति संरक्षण की भावना को लेकर भाषा का विकास होना चाहिए। समकालीन काव्य भाषा में निहित पर्यावरण बोध मानवीयता का सूचक है। कवि प्रकृति की भाषा में अपनी रचनार्थिमाता को नये आयाम दे रहे हैं। इसप्रकार भाषा और संस्कृति को चकनाचूर करनेवाली वैश्वीकृत संस्कृति के प्रति वह अपना विरोध ज़ाहिर करती है।

कवि दिनेश कुमार शुक्ल ने अपनी कविता में धरती के दर्द को चित्रित किया है। धरती की काया में प्रवेश करके उसकी वेदना को अपनी वेदना समझने की गहरी संवेदना को कवि यों प्रकट करते हैं:-

“रात भर में एक प्राक्तन वृक्ष बनकर छा गया हूँ मैं यहाँ
मैं स्वयं ही वह हरा तोता
रात की वह कर्ण भेदी चीख मैं ही हूँ
और मैं अश्रव्य सूखी और जलती घास की वह चटपटाहट”¹

1. दिनेश कुमार शुक्ल - कथा कहो कविता, पृ. 28

उपभोग संस्कृति स्त्री और प्रकृति को वस्तु समझती है, बिकाऊ-चीज़ मानती हैं। इसलिए ही आज पारिस्थितिक स्त्रीवाद पर इतनी अधिक चर्चाएँ हो रही हैं। प्रकृति और स्त्री दोनों में जीवन देने की क्षमता है। लेकिन पुरुष सत्तात्मक समाज में ये दोनों शोषण का शिकार हैं। जेसिला केरकेट्टा की कविता 'प्रकृति और स्त्री' में इसी बात को व्यक्त करती है:-

“औजार और सत्ता हाथ में आते ही
पहला किया प्रकृति को तबाह
करने को उस पर एकछत्र राज
कभी न सुनी स्त्री की आह
सृजनशीलता की जादुई डिबिया में बन्द
कैद रह गयी हमेशा उसकी आवाज़।”¹

इसप्रकार काव्यभाषा में निहित प्रकृतिबोध एक ऐसी समाज की सृष्टि पर बल देता है, जिसका निर्माण मनुष्यता की कसौटी पर हो। प्रकृति की रक्षा से मानव को एक सन्तुलित जीवन जीने की प्रेरणा इसके द्वारा प्रकट होता है।

प्रतीक

काव्य में चिंतन का बड़ा महत्व है। प्रतीक का संबन्ध भी मनुष्य की चिंतन प्रणाली से है। प्रतीक का सामान्य अर्थ होता है संकेत या चिह्न। जिसका प्रयोग किसी अन्य के स्थान पर किया जाता है। भाव एवं अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से काव्य में प्रतीकों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है।

1. सं. रमणिका गुप्ता - कलम को तीर होने दो, पृ. 191

प्रतीकों का प्रयोग समकालीन कविता में वर्तमान जीवन की जटिलताओं को सूचित करने के लिए किया जाता है। प्रतीकात्मकता के द्वारा कविता के शिल्प सौन्दर्य में वृद्धि के साथ व्यंजना शक्ति का भी विस्तार होता है। समकालीन कविता में प्रयुक्त प्रतीक पारंपरिक नहीं है, वह समय और संवेदना का सूचक है। प्रतीक विधान द्वारा कवि भावाभिव्यक्ति को मूर्त रूप प्रदान करता है जिसमें कविता की प्रभाव क्षमता में वृद्धि होती है। प्रतीक के प्रयोग से कविता भाव स्पष्ट समझ में आता है। डॉ. बच्चन सिंह कहते हैं:-
“मनुष्य अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों की तलाश करता रहता है। प्रतीकों की तलाश एक सर्जनात्मक व्यापार है।”¹

वैश्वीकरण के इस दौर में समय की क्रूरता का चित्रण करने के लिए कवि नवीन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। ‘बहेलिया’, ‘आक्रमणकारी’, ‘हत्यारा’, ‘अपराधी’, ‘तानाशाह’ आदि इसका उदाहरण है। कवि उमाशंकर चौधरी की पंक्तियाँ हैं:-

“हत्यारों’ का भी अपना बाज़ार है
जहाँ बिकते हैं हत्यारे और
खरीदी जाती है मृत्यु’।

यहाँ कवि अपने बर्बर समय के प्रतीक के रूप में ‘हत्यारा’ शब्द का इस्तेमाल किया है।

स्त्री, दलित और आदिवासी कविता में उनकी पीड़ा, बेबसी और

-
1. डॉ. बच्चन सिंह - आलोचना के बीज शब्द, पृ. 72
 2. उमाशंकर चौधरी - कहते हैं शहंशाह सो रहे थे, पृ. 25

शोषण को चित्रित करने के लिए कवि विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। अशोक भारती ने 'दीया और रोशनी' में दलित कविता में प्रयुक्त प्रतीकों पर विचार किया है:-

“दिया
अंधेरी झोपडियों का नसीब है
और सूरज
विशाल अट्टालिकाओं का गुलाम
यह हालत यूँ ही नहीं बदलेगी।”¹

प्रस्तुत कविता में कवि कहते हैं कि आभिजात्य समुदाय, समाज में हर सुख सुविधाओं के साथ तानाशाह की तरह जी रहे हैं। सारे संसाधनों का उपभोग कर रहे हैं। लेकिन दलित जनता, जो इन सुविधाओं का निर्माता है वह अब भी अभावों की ज़िन्दगी जी रहा है। दलित कवि सी. बी. भारती ने शिक्षित दलित के रूप में 'तितली' के प्रतीक का प्रयोग किया है। प्रस्तुत कविता में 'तितली' पूरी दलित जाति का प्रतिनिधित्व करती दिखाई पड़ती है।

“किन्तु आज तितली उदास नहीं है
अब तितली बेजुबान नहीं है
षड्यंत्रों से अनजान भी नहीं है वह
सीख लिया है उसने संघर्षों से-
जीने के लिए मरना।”²

-
1. कंवल भारती - दलित निर्वाचित कविताएँ, पृ 196
 2. वही - पृ 131

इसी प्रकार स्त्री कविता में भी कवयित्री अपने दैनंदिन जीवन में देखी बातों को प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करती है। अनामिका जी ने 'सेफ्टि पिन', 'सिटकनी' और 'दरवाज़े' जैसे अनेक प्रतीकों के द्वारा स्त्री जीवन के यथार्थ को पेश करने का प्रयास करती है।

“मैं एक दरवाज़ा थी
मुझे जितना पीडा गया
मैं उतनी खुलती गई।”¹

इसप्रकार समकालीन हिन्दी कविता, प्रतीकों के माध्यम से एक सुगठित काव्य भाषा का निर्माण करती है। प्रत्येक प्रतीक एक विशाल अर्थ संसार का द्योतक है, जो पाठक को सोचने के लिए मज़बूर करता है।

मिथक

काव्य और मिथक के बीच घनिष्ठ संबन्ध है। कवि की अनुभूति का निजी स्तर इतिहास के पटल पर विकसित होकर अपने अंतर्विरोधों के साथ जब राष्ट्रीय और सामाजिक आयामों में बंध जाता है तब काव्य में मिथकीय चेतना का उद्भव होता है। मिथक काव्य के एक उपदान है, स्वयं काव्य नहीं। हिन्दी काव्य क्षेत्र में मिथकों का प्रयोग प्रारंभ से ही होता रहा है। समकालीन कविता में मिथकों का प्रयोग वर्तमान परिस्थितियों को जीवन्तता प्रदान करने के लिए किया गया है।

दलित कविता में 'शंबूक', 'एकलव्य' जैसे मिथकीय पात्रों को केन्द्र

1. अनामिका - दूब धान, पृ. 182

में रखकर अनेक कविताओं का सृजन हुआ है। 'एकलव्य' की मिथकीय कहानी के माध्यम से दलित कवि समाज के सामने अनेक सवाल खड़ा करते हैं। एकलव्य और द्रोणाचार्य की कहानी गुरु एवं शिष्य के आदर्श संबन्ध को सूचित करने के लिए नहीं, आभिजात्य वर्ग के छल एवं कपटता को और दलितों के भोलेपन को उजागर करने के लिए ली गयी है :-

“एकलव्य! तुम्हें भोला भंडारी कहूँ या ज्ञानी मूर्ख
जो अंगूठा काटकर/ दे बैठे एक ऐसे गुरु को/ दक्षिणा में
जिसने तुम्हें नहीं सिखाया था / क ख ग भी धनुर्विधा का
और बना दिया तुम्हें ही निशाना / अपने धनुष्य की
धूर्तविद्या का/ और यों कट गए हाथ/ पूरे समाज के
समाज जिसके तुम अगवा / कर दिया पंगु भविष्य
तुम्हारी बिरादरी का।”¹

कात्यायनी जी की कविता में मिथकीय पात्र 'गार्गी' का वर्णन है। गार्गी मुनी की बेटी थी 'गार्गी'। पंडिता थी वह। एक बार याज्ञवल्क्य के साथ ब्रह्म तत्व के बारे में गार्गी तर्क में पड गया। गार्गी अनेक तर्कों को पेश करते देखकर दूसरे लोग उन्हें ऐसा उपदेश देते हैं कि:-

“गार्गी तुम देवी हो जीवनसंगिनी हो
पवित्रता हो गार्गी तुम
हम अधूरे हैं तुम्हारे बिना
महान बनने में हमारी मदद करें दुनिया को फतह करने में
आसमान तक चढ़ने में
गार्गी तुम एक रस्सी बनो

1. माता प्रसाद -हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृ. 302-303

त्याग-तप की प्रतिमा हो तुम
 सोचो परिवार का हित
 अपने इस घर को संभालो
 मत जाओ प्रश्नों की सीमा से आगे
 तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर।”¹

यहाँ ‘गार्गी’ वर्तमान स्त्री की प्रतिनिधि है। स्त्री को केवल त्याग और तपस्या का पाठ ही सीखना है। उन्हें तर्क करने का, सवाल पूछने का अधिकार नहीं है।

‘शम्बूक’ की कथा को केन्द्र में रखकर दलित कवियों ने शम्बूक की महानता और राम की हीनता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। वे राम के द्वारा शूद्र ऋषि शम्बूक की हत्या को अन्याय मानते हैं। यह घटना तत्कालीन समय की जातिगत भेदभाव का सूचक है। इसलिए इसके प्रति दलित कवि अपना विद्रोह प्रकट करते हैं:-

“शम्बूक, तुम्हारा रक्त ज़मीन के अंदर समा गया है
 जो किसी भी दिन फुटकर बाहर आएगा।
 ज्वालामुखी बनकर।”²

इसप्रकार समकालीन हिन्दी कविता में मिथकों की पुर्नव्याख्या की गई है और उसे नवीन संदर्भों के साथ जोड़कर विचार करने का प्रयास भी।

1. कात्यायनी - सात भाइयों के बीच चम्पा, पृ. 32

2. ओमप्रकाश वाल्मीकी - तलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 88

बिंब

केवल सृजनात्कता में ही नहीं, बल्कि बोलने की प्रक्रिया में भी मानव अनेक बिंबों को अनायास प्रयोग करते हैं। बिंबों की दृष्टि से समकालीन कविता प्रौढ़ है। इसमें कवि अनेक बिंबों का प्रयोग करके अपने अनुभव के व्यापक संसार को कविता में उतारने का प्रयास करते हैं। इसलिए कह सकते हैं कि समकालीन कविता जन के अधिक निकट है, जो पाठक के लिए नवीन सौन्दर्यबोध प्रदान करती है। डॉ. नगेन्द्र काव्यबिंब के संबन्ध में कहते हैं - “काव्यबिंब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा होती है। काव्य बिंब अदम्य भावना का संपृक्त चित्र है।”¹

समकालीन कविता में कवि अपनी अनुभूति की समुचित अभिव्यक्ति के लिए बिंबों का प्रयोग करते हैं। ‘एक रेल डिब्बे में’ कविता में ज्ञानेन्द्रपति ने एक प्रतिचित्रात्मक वस्तुबिंब को प्रस्तुत किया है:-

“वह डिब्बे का फर्श बुहारता हुआ आता है
 अपनी टूटी झाड़ू के आगे
 मूंगफलियों के छिलकों
 और सिगरेट के ढूँठों और तुडमुड़ाये ठोंगों
 का एक मटमैला ढेर लिए, घुटने मोड़े
 गंदे पोछे की तरह फिरता हुआ
 धीरा-धीरे खिसकता हुआ तुम्हारी ओर आता वह।”²

-
1. डॉ. नगेन्द्र - काव्य बिंब, पृ. 5
 2. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ. 241

पूरी कविता में कवि ने एक गरीब बालक का चित्रण किया है। जो अपनी भूख को मिटाने के लिए भीख मांगते नहीं बल्कि मेहनत करके पैसा कमाते हैं। वर्तमान समय के साथ जोड़कर देखने पर इस बिंब से कवि का मकसद समझ में आ जाएगा।

एकांत श्रीवास्तव की काव्यभाषा में प्रयुक्त बिंब पाठक के मन में गहराई तक उतरते हैं। वह स्थानीयता एवं लोकभूमि की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करता है:-

“गंध है हम जले हुए सपनों की
जड़ों की सिसकियों है निःशब्द
चिड़ियों की आँखों के जल हैं हम।”¹

दलित रचनाकारों ने भाषा में बिंबों का प्रयोग करके अपने ऊपर चल रहे अत्याचारों का सजीव चित्रण किया है। मोहन दास नैमिशराय अपनी अनुभवों को कविता में यों प्रस्तुत करते हैं:-

“मेरी बस्ती में/ जब गोली चली/ नज़दीक के कच्चे मकान से
मैंने किसी के कराहने की आवाज़ सुनी थी /और पुलिस के
खौफनाक दस्ते के
पास आने की भी/ और पुलिस के खौफनाक दस्ते के
पास आने की भी / खिड़की दरवाज़े/ सब बंद कर लिये थे
मैंने
गोलियाँ चलने की आवाज़ें/नज़दीक आने लगी थीं/ मैंने

1. एकांत श्रीवास्तव - अन्न है मेरे शब्द, पृ. 28

भयभीत हो
लिहाफ में मुँह डाल लिया था/ मेरा मकान/ किसी खंडहर की
तरह कांप रहा था।”¹

इसप्रकार समकालीन हिन्दी कविता में अनेक ऐन्द्रिक, संवेद्य, वैचारिक और भावबिंबों का सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। ये सब पाठक के लिए नयी सौन्दर्य दृष्टि प्रदान करने में सक्षम भी हुए हैं।

विभिन्न शैलियों का प्रयोग

समकालीन कवि अभिव्यक्ति को सार्थक बनाने के लिए विभिन्न शैलियों को अपनाते हैं। गद्यात्मक, संवादात्मक, डायरी शैली व्यंग्यात्मक शैली और आत्मकथात्मक शैली आदि शैली वैविध्य समकालीन कविता की खूबी को बढ़ाती है।

गद्यात्मकता, समकालीन कविता की मुख्य शैली है। समकालीन कवि काव्य भाषा संबंधी सारी शास्त्रीय उपादानों को नकारकर अपनी अनुभूतियों को गद्य की भाषा में प्रस्तुत करते हैं। कवि लीलाधर जगूडी की एक छोटी सी कविता की पंक्तियाँ हैं:-

“जब उसने कहा कि अब सोना नहीं मिलेगा
तो मुझे कोई फर्क नहीं पडा
पर अगर वह कहता कि अब नमक नहीं मिलेगा
तो शायद मैं रो पडता।”²

-
1. सं. कंवल भारती - दलित निर्वासित कविताएँ, पृ. 104
 2. लीलाधर जागूडी - कवि ने कहा, पृ. 106

नीलेश रघुवंशी जी के 'पानी का स्वाद' नामक काव्य संग्रह डायरी शैली में लिखी गई है। काव्य संग्रह के दूसरे भाग में कवयित्री गर्भवती होने से लेकर बच्चा पैदा होने तक के दिनों की डायरी तो कविता के रूप में लिखती है :-

“ग्यारह अगस्त, 1999 दिन बुधवार, सूर्यग्रहण है आज
कई कई बार कहा जा रहा है मुझसे
शादि के बाद बचना चाहिए-सूर्यग्रहण से
दिन भर की भूखी फिर भी खाने की इच्छा”¹

समकालीन हिन्दी कविता में 'आत्मालाप शैली' का अपना महत्व है। इसमें कवि अपने अनुभवों को आत्मकथन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। आत्मकथात्मक होने के कारण यह शैली पूरी दुनिया के साथ संवाद करनेवाली है। सविता सिंह की पंक्तियाँ है:-

“हूँ ऐसी गति में
उद्विग्न इतनी कि
तोडती हर डोर को जिससे हूँ बंधी।”²

इसप्रकार कविता में कवि विभिन्न शैलियों का प्रयोग करके पाठक को आकर्षित करने का प्रयास करते हैं। इससे काव्य भाषा के क्षेत्र शिल्प कौशल के नवीन आयामों का रूपायन हो रहा है।

-
1. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ 81
 2. सविता सिंह - अपना जैसा जीवन, पृ. 14

निष्कर्ष

संक्षेप में कहा जा सकता है कि, समकालीन हिन्दी कविता का भाषिक सौन्दर्य उसके प्रतिरोध में निहित है। समकालीन कविता, समय के साथ संवाद -परिसंवाद की कविता है। इसकेलिए भाषा के क्षेत्र में वह नवीन शैलियों और नवीन पद्धतियों का प्रयोग करती हैं। प्रत्येक वर्ग अपनी-अपनी भाषा में निज की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हैं। जिससे समकालीन कविता, पाठक के मन में गहराई तक पहुँचती है। यह बिलकुल ठीक है कि प्रतिरोध भाषा, अस्मिता बोध से उत्पन्न भाषा है। इसने कविता के क्षेत्र में एक नवीन सौन्दर्य बोध का निर्माण अवश्य किया है।



उपसंहार

उपसंहार

कविता कवि की सौन्दर्यानुभूति का स्वच्छन्द रूप है। मानव जीवन की विविधमुखी स्थितियों से वह उत्पन्न होती है। मनुष्य को तत्कालीन जीवन अनुभूतियों से जोड़नेवाले एक सशक्त माध्यम के रूप में वह काम करती है। वर्तमान जीवन की विषमताओं-विडंबनाओं के बीच इनसानियत का मार्ग ढूँढ निकालने में कविता का निजी महत्व है। इस दृष्टि से देखने पर समकालीन हिन्दी कविता सफल दिखाई पड़ती है। वह अपने दायित्व-निर्वाह के प्रति पूरी तरह सजग है। हर तरह की केन्द्रीयता से विच्छिन्न होकर वह जन जीवन को विस्तृत कैनवास में उतार रही है। कविता में अभिव्यंजित सौन्दर्य बोध का वैविध्य यानी बहुलता इसका प्रमाण है।

समकालीन हिन्दी कविता में मुखरित आत्माभिव्यक्ति का स्वर अस्मिताबोध का परिणाम है। अस्मिता बोध निजत्व का बोध कराता है। व्यक्ति और समुदाय अस्मिता को प्राप्त करने के लिए निरंतर संघर्ष करते रहते हैं। अस्मिता प्राप्ति के संघर्ष की शुरुआत अपने वंचित, पीडित एवं प्रताडित होने के एहसास से शुरु हो जाती है। अधिकारों से वंचित जन-समुदाय शोषण के खिलाफ खड़ा हो जाता है। समकालीन कविता का मूल उद्देश्य वैयक्तिक तथा सामूहिक अस्मिता की प्राप्ति है। वर्तमान समय में स्त्री, पुरुष की अधीनता से एवं उसके तानाशाही व्यवहार से मुक्त होना चाहती है। पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री को अपनी पहचान बनाना और अपने

आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता को बनाये रखना आसान कार्य नहीं है। समकालीन कविता, स्त्री की मानसिक एवं शारीरिक मुक्ति में सौन्दर्य देखती है। दलित जनता भी अस्तित्व की तलाश में है। दलित कविता इस तलाश की अभिव्यक्ति है। वे सदियों से सवर्ण समाज के शोषण के शिकार हैं। समकालीन दलित कविता, दलितों की खोई हुई अस्मिता की पुनःस्थापना चाहती है। दलित समाज की मुक्ति ही इन कविताओं का वास्तविक लक्ष्य है। आदिवासी समाज भी आज प्रस्थान की दिशा में है। वे भी अपनी उपस्थिति और अस्मिता को बरकरार रखने के लिए लड़ाई लड़ रही है। समकालीन आदिवासी कविता इसको वाणी देने का प्रयास कर रही है। वर्तमान समय में इसके अलावा किन्नर, बालक, वृद्ध, समलैंगिक जैसे अल्पसंख्यकों की अस्मिता भी खतरे में है। समकालीन कविता का कलेवर पूर्णतः इनके स्वत्व बोध को लेकर एवं उसकी स्थापना के लिए विकसित हुआ है। इस दृष्टि से स्त्री, दलित, आदिवासी और अन्य अल्पसंख्यकों की अस्मिता की लड़ाई कविता के सौन्दर्यबोध संबन्धी पुरानी मान्यताओं को धकेल देती है और काव्य सौन्दर्य सम्बन्धी नई मान्यताओं का रूपायन कर रही है।

समकालीन कविता, लोक सौन्दर्य को विस्तृत फलक पर प्रस्तुत करती है। लोक जीवन और लोक संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। भारतीय संस्कृति का वास्तविक सौन्दर्य लोक संस्कृति में ही है। 'लोक' शब्द की अर्थव्याप्ति केवल 'साधारण' तक सीमित नहीं है, बल्कि

उससे गहरा अर्थ द्योतित होता है। यह ठीक है कि आधुनिक सभ्यता की चकाचौंध में पडकर मानव, लोक जीवन और स्थानीय संस्कृति से दूर चला गया। लेकिन समकालीन कविता में कवि अपनी ज़मीन की ओर वापसी को ज़ोर दे रहे हैं। समकालीन कविता की लोकपक्षधरता मानव जीवन के लिए एवं कवि की लेखनी के लिए नवीन ऊर्जा एवं गति प्रदान करती है। समकालीन कविता का प्रकृति बोध भी अलग महत्व रखता है। यह इसका सूचक है कि प्रकृति से अलग मानव का कोई अस्तित्व नहीं। समकालीन कवि 'लोक सौन्दर्य' की रक्षा के लिए सतर्क होते हैं। यह समय की अनिवार्यता भी है। क्योंकि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास लोक संस्कृति से जुड़ा हुआ है। वर्तमान में नगर जीवन की कृत्रिमता ने लोक जीवन की सुन्दरता को नष्ट कर दिया। इस सांस्कृतिक आक्रमण को लेकर कवि शंकाग्रस्त है। इसलिए ही समकालीन कविता में स्थानीयता के प्रति गहरी आत्मीयता दिखाई देती है। मनुष्य अपनी लोकविशिष्ट-आत्मीय संस्कृति से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। वे हमेशा लोक-विश्वासों, रीति-रिवाज़ों, खान-पान, और पर्व त्योहार आदि से जुड़े रहते हैं। इसलिए इसकी चर्चा के बिना कविता का सौन्दर्य बोध संबन्धी अध्ययन पूर्ण नहीं होगा।

समकालीन कविता जटिल परिस्थितियों की उपज है। समय के यथार्थ को अभिव्यक्त करना कवि का दायित्व है। समकालीन दौर में, वैश्वीकरण, उदारीकरण जैसे सुन्दर एवं प्रलोभनकारी शब्दों के मोह-जाल में एक विशेष

संस्कृति का प्रचलन होता है, जहाँ मानव मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। इन नीतियों के केन्द्र में केवल अर्थ लिप्सा ही है। साम्राज्यवादी शक्तियाँ परदे के पीछे खड़े होकर ताकतवर बनती जा रही हैं, बाकि सब उनके गुलाम। नव उपनिवेश का दुष्प्रभाव समाज के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है। भूमंडलीकरण विश्व के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक पहलुओं को अपने अधीन में ला रहे हैं। इसने दुनिया के अविकसित देशों में गहन संकट पैदा किया। आर्थिक संकट के अलावा हत्याएँ, लूटपाट, आतंकवाद, सांप्रदायिक दंगों जैसी अमानवीय वृत्तियाँ देश के कोने कोने में व्याप्त होने लगी हैं। समकालीन कवि, इस भूमंडलीय-भयावहता में अपना सार्थक हस्तक्षेप दर्ज करता है। कवि का उद्देश्य, मात्र सामयिक संदर्भों का अंकन ही नहीं बल्कि उसके प्रति पाठक को सजग कराना भी है। इसलिए यह निसंदेह कहा जा सकता है कि समकालीन हिन्दी कविता युगीन सच्चाई पर कवि के सार्थक हस्तक्षेप की उपज है, साथ ही साथ काव्य सौन्दर्य को एक व्यापक धरातल देने का प्रयास भी है।

समकालीन कविता प्रतिरोध की कविता है। इस प्रतिरोध को ज़ाहिर करने के लिए एक नयी काव्य भाषा का सृजन कवि अनिवार्य समझते हैं। स्त्री, दलित और आदिवासी कवि अपने जीवनानुभवों को कविता का आधार मानते हैं। वे किसी पूर्वनिर्धारित मानदण्डों पर काव्य-सृजन नहीं करते। इसलिए समकालीन कविता के भाषागत सौन्दर्य में कवि के विचारों,

अनुभवों और भावनाओं की प्रधानता होती है। उसके माध्यम से वे सौन्दर्य के नए प्रतिमानों को रूपायित कर रहे हैं। पुराने भाषा-बोध को तोड़कर नवीन भाषा-बोध का गढ़न कर रहे हैं। जहाँ शोषण होता है वहाँ प्रतिरोध भी अवश्य जाग उठता है। इसलिए सामाजिक अन्याय के खिलाफ काफी सक्रिय है आज की कविता। वह अपनी भाषा एवं विषय के माध्यम से हर अत्याचार का विरोध करती है। इस प्रतिरोधी भाषा में जन-जीवन के निकट के बिंब-प्रतीकों का प्रयोग भारी मात्र में है। मिथकों की पुनर्व्याख्या और शैली वैविध्य उसकी अपनी विशेषताएँ होती हैं। इसप्रकार समकालीन कविता की भाषा एवं शिल्प-पक्ष की नवीनता, नवीन सौन्दर्यबोध का द्योतक है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि समकालीन कविता का सौन्दर्य बोध उसकी बहुस्वरता में निहित है। पूर्ववर्ती कविताएँ जहाँ किसी एक पक्ष को प्रमुखता देकर उसके सौन्दर्य की चर्चा करती थी तो, समकालीन कविता केन्द्रीय सत्ता के टूटने में सौन्दर्य देखती है। जिस तरह सभी व्यक्तियों की उपस्थिति से समाज संपूर्ण होता है, उसी प्रकार समाज के सारे तत्वों को समेटने में ही साहित्य की संपूर्णता होती है। इससे साहित्य का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। इस नवीन सौन्दर्य बोध के निर्माण में युगीन यथार्थ का प्रभाव अवश्य है। कविता की सार्थकता और सुन्दरता जीवन की वास्तविकता के चित्रण में है। वास्तविकता से विच्छिन्न होने पर उसकी सुन्दरता कमज़ोर पड जाएगी। यहाँ भले-बुरे का विवेचन करनेवाले विवेक में ही सुन्दरता है।

यह विवेक इनसानियत का मार्ग प्रशस्त करता है। इससे कविता में सौन्दर्य सहज रूप में उपस्थित होता है। अतः इस प्रकार के नवीन सौन्दर्य बोध का सृजन करके समकालीन कविता समय के सभी तत्वों को अपने भीतर समेटने का सराहनीय कार्य कर रही है।



परिशिष्ट

परिशिष्ट

शोध छात्रा के प्रकाशित शोध लेख

1. समकालीन हिन्दी कविता में हाशिएकृतों का प्रतिरोध - अनुशीलन (शोध पत्रिका) जुलाई 2016. आई.एस.एस.एन - 2244-2844
2. मुक्तिबोध की कविता में फैंटसी - अनुशीलन (शोध पत्रिका) जुलाई 2017 आई.एस.एस.एन - 2244-2844
3. छायावादी काव्य और स्त्री स्वातंत्र्य, अनुशीलन (शोध पत्रिका) जनवरी 2018 आई.एस.एस.एन - 2244-2844

राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रपत्र प्रस्तुतीकरण

1. मुक्तिबोध की कविता में फैंटसी, हिन्दी विभाग, कोच्चिन विश्वविद्यालय, दिसंबर 2016
2. छायावादी काव्य और नारी स्वातंत्र्य, हिन्दी विभाग, कोच्चिन विश्वविद्यालय, फरवरी 2017
3. समकालीन हिन्दी कविताओं में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर, हिन्दी विभाग, सरकारी आर्ट्स व साइन्स कॉलेज, कोषिककोड - अक्तूबर 2018

अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रपत्र प्रस्तुतीकरण

1. छायावादी कवित के प्रतिमान : एक पुनर्मूल्यांकन, हिन्दी विभाग, महाराजास महाविद्यालय, एरणाकुलम - सितंबर 2018
-



संदर्भ ग्रंथसूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

मूलग्रन्थ

1. अतिक्रमण
कुमार अंबुज
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 2002
 2. अधूरी देह
गीतिका वेदिका
क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स
एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स
कानपुर, प्र.सं. 2016
 3. अंधेर में बुद्ध
गगन गिल
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं.1996
 4. अनभै कथा
जितेन्द्र श्रीवास्तव
नवचेतन प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 2004
 5. अनुष्टुप्
अनामिका
किताबघर
दिल्ली, प्र.सं. 1998
 6. अनंतिम
कुमार अंबुज
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 2002
 7. अन्न है मेरे शब्द
एकांत श्रीवास्तव
आधार प्रकाशन
हरियाणा, प्र.सं. 1994
-

8. अपनी केवल धार अरुण कमल
वाणी प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1999
 9. अपने घर की तलाश में निर्मला पुतुल
रमणिका फाउंडेशन
दिल्ली, प्र.सं. 2004
 10. अपने जैसा जीवन सविता सिंह
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 2001
 11. अब और नहीं ओमप्रकाश वाल्मीकी
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 2009
 12. अबूतर कबूतर उदय प्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं.1984
 13. अभी बिलकुल अभी केदारनाथ सिंह
संभावना प्रकाशन
हापुड, प्र.सं. 1980
 14. असुंदर सुन्दर जितेन्द्र श्रीवास्तव
भारतीय ज्ञानपीठ
दिल्ली, प्र.सं. 2008
 15. आवाज़ भी एक जगह है मंगलेश डबराल
वाणी प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 2000
-

16. इस तरह मैं पवन करण
मेधा बुक्स
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
17. इस पौरुषपूर्ण समय में कात्यायनी
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1999
18. कहते हैं तब शहंशाह सो रहे थे उमाशंकर चौधरी
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
19. काला बाँक तिरछा लीलाधर मंडलोई
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
20. कुरुज मदन कश्यप
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
21. कोट के बाजू पर बटन पवन करण
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2013
22. क्रौच हूँ मैं श्यौराजसिंह बेचैन
सहयोग प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1995
23. क्रूरता कुमार अंबुज
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1996
-

24. क्योँ विश्वास करूँ
सूरजपाल चौहान
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
25. खत्म नहीं होती बात
बोधिसत्व
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2010
26. खुरदुरी हथेलियाँ
अनामिका
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2005
27. गंगातट
ज्ञानेन्द्रपति
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2000
28. गाँव का बीजगणित
कुमार कृष्ण
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली, प्र.सं. 2000
29. गूँगा नहीं था मैं
जयप्रकाश कर्दम
सागर प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
30. घर निकासी
नीलेश रघुवंशी
किताबघर प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
31. चलने से पहले
हेमंत कुकरेती
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1996
32. चाँद की वर्तनी
राजेश जोशी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
-

33. जादू नहीं कविता
कात्यायनी
उत्तम प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2002
34. दलित निर्वाचित कविताएँ
सं. कंवल भारती
इतिहास बोध प्रकाशन
इलाहाबाद, सं. 2006
35. दुनिया रोज़ बनती है
आलोक धन्वा
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2000
36. दुश्चक्र में स्रष्टा
वीरेन डंगवाल
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
37. दूब-धान
अनामिका
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, प्र.सं. 2007
38. दो पंक्तियों के बीच
राजेश जोशी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2000
39. देखा अदेखा
लीलाधर मंडलोई
शिल्पायन प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2002
40. धूप घड़ी
राजेश जोशी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2002
-

41. नगाडे की तरह बजते शब्द
निर्मला पुतुल
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
42. नये इलाके में
अरुण कमल
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1996
43. नये युग में शत्रु
मंगलेश डबराल
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2013
44. नागकेसर का देश यह
एकांत श्रीवास्तव
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
45. नींद थी और रात थी
सविता सिंह
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2005
46. नेपथ्य में हँसी
राजेश जोशी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1994
47. पहाड पर लालेटन
मंगलेश डबराल
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1981
48. पानी का स्वाद
नीलेश रघुवंशी
किताब घर प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
-

49. पानी का दुखडा विमल कुमार
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
50. बस्स! बहुत हो चुका ओमप्रकाश वाल्मीकी
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1997
51. बीज से फूल तक एकांत श्रीवास्तव
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
52. बीजाक्षर अनामिका
भूमिका प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1993
53. मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद एकांत श्रीवास्तव
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली, प्र.सं. 2000
54. मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए स्वप्निल श्रीवास्तव
मेधा प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
55. मुझसे छीन ली गयी मेरी नदी अग्निशेखर
शारदापीठ प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1996
56. मैं वो शंख महाशंख अरुण कमल
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2012
-

57. योगफल
अरुण कमल
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2018
58. रात में हारमोनियम
उदय प्रकाश
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1998
59. राख अंधेरे की बारिश में
कात्यायनी
परिकल्पना प्रकाशन
लखनऊ, पृ. सं. 2004
60. रोया नहीं था यक्ष
हरिराम मीणा
जगतराम एण्ड संस
नई दिल्ली, प्र.सं. 2003
61. लेकिन उदास है पृथ्वी
मदन कश्यप
आदार प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1992
62. लिक्खे में दुःख
लीलाधर मंडलोई
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2010
63. सच पूछो तो
भगवत रावत
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2002
64. सबूत
अरुण कमल
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1989
65. संपूर्ण कविताएँ
कुमार विकल
आधार प्रकाशन
हरियाणा, प्र.सं. 2000
-

66. समकालीन आदिवासी कविताएँ सं. हरिराण मीणा
अलख प्रकाशन
जयपुर, प्र.सं. 2018
67. संशयात्मा ज्ञानेन्द्रपति
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
68. सात भाइयों के बीच चंपा कात्यायनी
आधार प्रकाशन
हरियाणा, प्र.सं. 1997
69. स्त्री मेरे भीतर पवन करण
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
70. सुनो ब्राह्मण मलखान सिंह
बोधि सत्व प्रकाशन, रामपुर
प्र. सं. 1997
71. हम जो देखते हैं मंगलेश डबराल
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1995

सहायक ग्रन्थ

1. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सं. विनोद तिवारी
श्रेष्ठ निबन्ध लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, सं. 2016
2. आज की कविता विनय विश्वास
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
-

3. आज की हिन्दी कविता सं. जगदीश चतुर्वेदी
हरदयाल
ज्ञान गंगा प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1995
 4. आदिवासी कौन डॉ. रमणिका गुप्ता
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2008
 5. आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी डॉ. रमणिका गुप्ता
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2002
 6. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ नामवर सिंह
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, सं 2004
 7. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास बच्चन सिंह
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, सं 2004
 8. आधुनिक कविता का पुनर्पाठ करुणाशंकर उपाध्याय
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
 9. आलोचना की सामाजिकता मैनेजर पाण्डेय
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
 10. आस्था और सौन्दर्य रामविलास शर्मा
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1990
-

11. इको फैमिनिज़्म
डॉ. के. वनजा
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2013
 12. उत्तर उपनिवेशवाद: चुनौतियाँ और
विकल्प
राकेश कुमार
सुभद्रा प्रकाशन
दिल्ली, सं. 2014
 13. उपनिवेश में स्त्री: मुक्ति कामना
की दस वार्ताएँ
प्रभा खेतान
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं.2003
 14. एक कवि की नोटबुक
राजेश जोशी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
 15. कविता का आत्मपक्ष
एकांत श्रीवास्तव
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
 16. कविता का स्त्रीपक्ष
प्रमीला के.पी
जवाहर पुस्तकालय
मथुरा, प्र.सं. 2006
 17. कविता के सौ बरस
लीलाधर मंडलोई
शिल्पायन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
 18. काव्य बिंब
डॉ. नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस
नई दिल्ली, प्र.सं. 1967
 19. काव्यशास्त्र
डॉ. भगीरथ मिश्र
विश्वविद्यालय प्रकाशन
वाराणसी, सं. 2016
-

20. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध जयशंकर प्रसाद
डायमेट पॉकेट बुक्स
नई दिल्ली, प्र.सं. 2000
21. ग्लोबल समय में कविता प्रियदर्शन
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2014
22. चिंतामणि भाग - 1 आचार्य रामचन्द्रशुक्ल
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग, सं. 1950
23. छायावाद नामवर सिंह
सरस्वती प्रेस
बनारस, सं. 1955
24. छायावाद एक पुनर्मूल्यांकन रवीन्द्र भ्रमर
रामकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1981
25. तारसप्तक अज्ञेय
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, सं. 2005
26. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र ओमप्रकाश वाल्मीकी
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2005
27. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र डॉ. शरणकुमार लिंगबाले
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2000
28. दलित साहित्य का समाजशास्त्र डॉ. हरिप्रसाद ठाकुर
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
-

29. दलित साहित्य परंपरा और विन्यास डॉ.एन सिंह
साहित्य संस्थान
गाज़ियाबाद, सं. 2011
30. दुर्ग द्वार पर दस्तक कात्यायनी
परिकल्पना प्रकाशन
लखनऊ
सं. 1998
31. धरती की पुकार सुंदरलाल बहुगुणा
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2007
32. धर्म और सांप्रदायिकता नरेन्द्र मोहन
प्रभात प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
33. नए साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र गजानन माधव मुक्तिबोध
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2008
34. नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध गजानन माधव मुक्तिबोध
विश्वभारती प्रकाशन
नागपुर, सं. 1964
35. नारीवादी विमर्श राकेश कुमार
आधार प्रकाशन
हरियाणा, सं. 2001
36. प्रकृति, पर्यावरण और समकालीन कविता मनीषा झा
आनंद प्रकाशन
कोलकत्ता, सं. 2004
-

37. भारतीय काव्य शास्त्र योगेन्द्र प्रताप सिंह
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, सं. 2009
38. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त गणपति चंद गुप्त
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, सं. 2009
39. भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा मैनेजर पाण्डेय
वाणी प्रकाशन,
नई दिल्ली, सं. 2013
40. भूमंडलीकरण और हिन्दी कविता डॉ. बाबू जोसफ
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस
नई दिल्ली, प्र.सं. 1967
41. भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ सच्चिदानंद सिंहा
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2003
42. भूमंडलीकरण: ब्राड संस्कृति और राष्ट्र प्रभा खेतान
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2010
43. लोक साहित्य और संस्कृति दिनेश्वर प्रसाद
जयभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र.सं. 1989
44. लोक साहित्य की रूप रेखा डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र.सं. 1988
45. समकालीनता और साहित्य राजेश जोशी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2010
-

46. समकालीन कविता की भूमिका डॉ. मोहन
अनंग प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2005
47. समकालीन कविता की भूमिका विश्वंभरनाथ उपाध्याय
मैकमिलन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1976
48. समकालीन कविता और कुलीनतावाद अजय तिवारी
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1994
49. समकालीन हिन्दी उपन्यास डॉ. एन. मोहनन
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2013
50. समीक्षा के नए प्रतिमान डॉ. अशोक द्विवेदी
अविल प्रकाशन
इलाहाबाद, सं. 1992
51. स्त्री मुक्ति का सपना सं. प्रो. कमला प्रसाद
राजेन्द्र शर्मा
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
52. स्त्री विमर्श कलम और कुदाल के
बहाने रमणिका गुप्ता
शिल्पायन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
53. स्त्री विमर्श का लोकपक्ष अनामिका
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2012
-

54. संस्कृति की उत्तरकथा शंभूनाथ
नवोदय सेल्स
नई दिल्ली, प्र.सं. 2000
55. हिन्दी आलोचना का विकास नन्दकिशोर नवल
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1981
56. हिन्दी दलित कविता डॉ. रजत रानी मीनू
जयभारत प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
57. शृंगखला की कडियाँ महादेवी वर्मा
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, सं. 2008

मलयालम पुस्तकें

1. कथयुम परिस्थितियुम जी. मधुसूदनन
करेन्ड बुक्स, त्रिच्चूर
प्र.सं. 2000
2. हरित निरूपणम मलयालत्तिल जी. मधुसूदनन
डी.सी बुक्स, त्रिच्चूर
प्र.सं. 2002
3. दलित साहित्य प्रस्थानम् के.सी. पुरुषोत्तमन
केरल साहित्य अकादमी
त्रिच्चूर, प्र.सं. 2008
4. देवदासिकलुम हिजडकलुम पी. सुरेन्द्रन
डी.सी बुक्स, कोट्टयम
प्र.सं. 2011
-

पत्र-पत्रिकाएँ

- | | |
|--------------------|--|
| 1. आलोचना | जनवरी - मार्च - 2001
अक्तूबर - दिसंबर 2005
जनवरी - मार्च 2013
अक्तूबर-सितंबर 2009 |
| 2. कथादेश | मई 2012 |
| 3. पक्षधर | मई 2007
जनवरी - 2009 |
| 4. बहुवचन | अक्तूबर-दिसंबर 2015 |
| 5. नया ज्ञानोदय | मई - 2003
अक्तूबर - 2018 |
| 6. भाषा | जनवरी - फरवरी 2001 |
| 7. युद्धरत आम आदमी | विशेषांक 2011
जनवरी -मार्च 2019 |
| 8. वाक् | जनवरी - मार्च 2013
जुलाई - सितंबर 2012
जुलाई - सितंबर 2018 |
| 9. वागर्थ | फरवरी 2013
नवंबर 2014 |
| 10. सामयिक सरस्वती | अप्रैल - सितंबर 2018 |

वेबसाइट्स

1. <http://kavitakosh.org>
 2. <http://guylaxy.com>
-